धर्म-पथ

लेखक

महात्मा गाँधी

प्रकाशक
छात्रहितकारी पुस्तकमाला,
दारागञ्ज, प्रयाग।

तृतीय संस्करण] १९४६ मूल्य १।)

विषय-सूची

दो शब्द

भारत धर्म-प्रधान देश है। इसके कण-कण पर धार्मिकता की छाप है। इसी ने हिन्दू जाति को इतने प्रहारों, इतने परिवर्तनों के बाद भी जीवित रखा है। आज मिश्र, यूनान तथा रोम की वे जातियाँ, उनकी सभ्यता, उनका पांडित्य कहाँ है? परन्तु आज वही धर्मप्राण हिन्दू जाति धर्म से विमुख हो रही है, धर्म के स्थान पर ढोंग का ही आचरण करती है। हमारे ऋषि मुनियों ने धर्म का उपदेश जिस उद्देश्य के लिये किया था, उस उद्देश्य को भूलकर हम केवल लकीर पीटते हैं। यद्यपि धर्म के मूल तत्व शाश्वत हैं परन्तु उसके आचरण देश, काल और पात्र के अनुसार बदलते रहते हैं। यही कारण है कि ऋषियों के उपदेशों में कहीं कहीं विरोध पाया जाता है। आज दिन अठारह स्मृतियाँ वर्तमान हैं, जिन्हें अठारह महापुरुषों ने समय-समय पर रचे हैं। प्रत्येक ऋषि ने देखा कि पहले के आचरित धर्म इस समय के उपयुक्त नहीं, उसने उसमें संशोधन, परिवर्द्धन करके जनता को ठीक मार्ग बतलाया।

ऐसे संशोधन (Reform) का काम वही कर सकता है जो स्वयं उसका आचरण करता है। आज दिन धर्म तथा आध्यात्म की पुस्तकों के पन्ने उलटने और उन पर शास्त्रार्थ और वितंडावाद करने वाले बहुत से पण्डित सन्यासी मिलेंगे, परन्तु उसमें कितने ऐसे हैं जो उन धर्म-उपदेशों के अनुसार आचरण करते हैं। फिर जो स्वयं अन्धकार में है वह दूसरे को क्या मार्ग बतावेगा। इन बातों पर विचार करने पर एकमात्र **महात्मा गाँधी** ही ऐसे पुरुष हैं जो धर्मोपदेश का दावा कर सकते हैं। यद्यपि न तो उन्होंने वेद-वेदांत तथा स्मृतियों का अध्ययन

किया है और न उन्होंने इस वंश में जन्म लिया है फिर भी उनका आचरण ही धर्म से ओतप्रोत है।

हम ऊपर कह आये हैं कि धर्माचरण में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। आज दिन जब कि पहले और वर्त्तमान काल में जमीन आसमान का अन्तर हो गया है परिस्थितियां बिल्कुल बदल गई हैं उन्हीं धर्म उपदेशों के अनुसार न तो आचरण करना संभव है और न ऐसा करने में हमारा कल्याण ही हो सकता है, इसी से मीमांसाकार ने धर्म का केवल एक सूत्र में लक्षण बताया है "यतो अभ्युदय निश्रेयस् सिद्धि सधर्मः" हमारे लिये ऐसे धर्माचरण की आवश्यकता है जिससे हम संसार को अन्य जातियों के साथ-साथ संसार की उन्नति कर सकें और परमार्थ साधन भी करें। महात्मा गाँधी का धर्माचरण ऐसा ही है जिससे हम लोग ऐहिक और पारलौकिक दोनों उन्नति कर सकते हैं।

एक यज्ञ ही को लीजिये। प्राचीन काल में अश्वमेध, राजसूय आदि सैकड़ों नैतिक तथा नैमित्तिक यज्ञ बड़े तथा छोटे पैमाने पर किये जाते थे। महात्माजी ऐसे यज्ञों को वर्तमान काल के लिये बिल्कुल अनुपयुक्त बताते हैं। वर्तमान काल के लिये तो वह स्वार्थ छोड़कर परोपकार के लिये सर्वस्व न्यौछावर करने को ही श्रेष्ठ यज्ञ बतलाते हैं। इसी प्रकार और धर्माचरण के सम्बन्ध में उनके विचार बिल्कुल समयानुकूल और श्रेयस्कर हैं।

महात्मा गाँधी ने समय-समय पर जिज्ञासु लोगों के पूछने तथा सभाओं में ईश्वर और धर्म पर जो उद्‌गार प्रकट किये हैं, प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं का संकलन किया है। आशा है, यह संकलन आस्तिक तथा धर्म-पिपासु लोगों के लिये पथ-प्रदर्शन का कार्य करेगा।

छात्रहितकारी पुस्तक-माला
कार्यालय
दारागंज प्रयाग,

गणेश पांडेय
संकलनकर्ता

धर्म-पथ

१—ईश्वर का अस्तित्व

जब तब पत्र-लेखकगण मुझे इन पृष्ठों में ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर देने को कहा करते हैं। यं० इं० में बार-बार ईश्वर का नाम लेने का यही दंड मुझे सहना पड़ता है। गोकि ऐसे सभी प्रश्नों पर विचार करना असंभव है, किन्तु निम्नलिखित प्रश्न का उत्तर देना अनिवार्य है।

"१२-५-२७ के यं० इं० में आप लिखते हैं कि इस दुनिया में निश्चयता की आशा रखनी भूल है। यहाँ तो परमात्मा यानी सत्य के सिवा सभी कुछ अनिश्चित है।

फिर आप दूसरी जगह पर लिखते हैं, 'परमात्मा अत्यन्त सहिष्णु और धैर्यशाली है। वह अत्याचारी को समय समय पर गंभीर चेतावनियाँ देता है और उनको अपने आप ही सजायें देता है।

"मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व कुछ निश्चित बात नहीं है, उसका उद्देश्य होना चाहिये, सर्वत्र सत्य का विस्तार करना। तब वह दुनिया में तरह तरह के बुरे आदमियों को क्यों रहने देता है? अपनी विचारशून्यता को लेकर दुनिया में सर्वत्र बुरे आदमी फैले हुये हैं जो अपनी छूत फैलाते हैं और इस तरह अनीति और बेईमानी की विरासत आगे आनेवाली पीढ़ियों को देते जाते हैं।

ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिशाली कहा जाता है। तब वह अपनी सर्वज्ञता से पाप का पता क्यों नहीं लगा कर, अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सभी शैतानियों को वहीं का वहीं क्यों नहीं नष्ट कर देता और बुरे आदमियों की उन्नति क्यों नही रोक देता?

"फिर ईश्वर इतना सहिष्णु क्यों है? वह इतना धैर्यशाली क्यों है? अगर उसका यही स्वभाव है तो फिर उसका क्या प्रभाव रहेगा? दुनिया में तो बदमाशी, बेईमानी और अत्याचार फैले हुए हैं।

"पापात्मा अगर किसी अत्याचारी को आप ही सजाएँ देता है तो फिर उसके अत्याचारों के नीचे गरीब लोगों के पिसने के पहले ही उसे क्यों नहीं मार डालता? क्यों वह किसी अत्याचारी को भरपूर अत्याचार करने देता है और हजारों आदमियों के उसके अत्याचार के कारण सत्यानाश हो चुकने और उनका नीतिधर्म नष्ट हो चुकने के बाद उसे मरने देता है?

"संसार में आज भी उतनी ही बुराइयाँ हैं, जितनी कि कभी थीं। उस ईश्वर में कोई क्यों विश्वास करे, जो दुनिया को बदलने के लिये, इसे भले और पुण्यात्मा आदमियों के रहने का स्थान बनाने के लिए अपनी शक्तियों का उपयोग नहीं करता है।

"मैं देखता हूँ कि दुश्चरित्र लोग बुराई करते हुये भी स्वस्थ और दीर्घायु होते हैं। दुश्चरित्रता की बदौलत वे अल्पायु होकर क्यों नहीं मर जाते?

"मैं ईश्वर में विश्वास करना चाहता हूँ। किन्तु मेरे विश्वास का कोई आधार नहीं है। कृपया मुझे यं० इं० के द्वारा सन्मार्ग पर लाइए और मेरे अविश्वास को विश्वास में परिवर्तित कीजिये।"

यह दलील सनातन है। मेरे पास इसका कोई नया मौलिक जवाब नहीं है। मगर तौभी मैं बतलाऊँगा कि मैं ईश्वर में क्यों विश्वास करता हूँ। ऐसा करने की प्रेरणा मुझे इसलिये होती है कि मुझे मालूम है कि ऐसे नवजवान हैं जो मेरे विचारों और कार्यों में दिलचस्पी रखते हैं। एक तरह की अकथनीय, अज्ञात शक्ति सर्वत्र व्याप्त है। मैं उसका अनुभव करता हूँ, गो कि देखता नहीं हूँ। इस अदृष्ट शक्ति का अनुभव होता है, मगर तौभी इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता। क्योंकि जिन सब शक्तियों का ज्ञान मुझे इन्द्रियों से होता है, यह उन सबसे परे है। यह इन्द्रियों के परे है।

मगर मर्यादित क्षेत्र में ईश्वर का अस्तित्व युक्तियों से भी प्रमाणित किया जा सकता है। मामूली मुआमलों में हम जानते हैं कि लोगों को यह पता नहीं होता है कि कौन या क्यों और कैसे शासन करता है। और तौभी वे जानते हैं कि निश्चय ही ऐसी कोई शक्ति है जो शासन करती है। गत वर्ष अपनी मैसूर की मुसाफिरी में मैं कितने ही गरीब आदमियों से मिला था। पूछने पर मालूम हुआ कि वे यह नहीं जानते कि उनका राजा कौन है। उन्होंने सिर्फ यही कहा कि कोई देवता राज करता होगा। जब कि इन गरीब देहातियों का ज्ञान अपने शासक के विषय में इतना कम है, तब मैं इस पर क्यों आश्चर्य करूँ कि मैं राजाओं का राजा परमात्मा के अस्तित्व को नहीं जानता, जो मुझसे महाराज मैसूर अपनी प्रजा से जितने बड़े हैं उसके अनन्त गुणा अधिक बड़ा है। मगर तौ भी जैसे कि मैसूर के गरीब देहातियों को अनुभव होता था, मुझे भी ऐसा अवश्य लगता है कि विश्व में नियमितता है, व्यवस्था है, सभी प्राणियों, सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में, जिनका कि इस संसार में अस्तित्व है, कोई अपरिवर्त्तनीय, अटल नियम लागू होता है। यह कोई

अन्धा निष्प्राण नियम नहीं है। क्योंकि कोई निष्प्राण नियम सजीव प्राणियों पर शासन नहीं कर सकता। सर जगदीशचन्द्र वसु की खोजों की बदौलत तो अब सभी पदार्थों को सजीव कहा जा सकता है। इसलिये जो नियम सभी प्राणियों, सभी जीवों पर शासन करता है, वह परमात्मा है। नियम और नियमकर्त्ता किसी के अस्तित्व को इन्कार नहीं कर सकता क्योंकि इनके बारे में मैं बहुत ही कम जानता हूँ। जैसे कि किसी सांसारिक शक्ति के अस्तित्व को न मानने से मेरा कुछ भी बचाव नहीं हो सकता, उसी तरह परमात्मा को और उसके नियम को इन्कार करने से मैं उनके प्रभाव से बच नहीं सकता। इसके उल्टे नम्रतापूर्वक शांति से दैव का बल स्वीकार कर लेने से जीवनयात्रा सहज हो जाती है। जैसे कि सांसारिक शासन को भी मान लेने से उसके नीचे जीवन सहज हो जाता है।

मैं धुँधले तौर पर यह अनुभव जरूर करता हूँ कि जब कि मेरे चारों ओर सभी कुछ बदल रहा है, मर भी रहा है, इन सब परिवर्त्तनों के नीचे एक जीवित शक्ति है जो कभी भी नहीं बदलती। जो सब को एक में बाँध कर रखती है। जो नयी सृष्टि पैदा करती है। यही शक्ति ईश्वर है। परमात्मा है मैं इन्द्रियों से जिसका अनुभव कर पाता हूँ, उनमें से और कोई वस्तु टिकी नहीं रह सकती, नहीं रहेगी इसलिये 'तत्सत्' एक वही है।

और वह शक्ति शिव (कल्याणकारी) है या अशिव (अनिष्टचिंतक)? मैं तो इसे शुद्ध कल्याणकारी रूप में ही देखता हूँ। क्योंकि मैं देखता हूँ कि मृत्यु के मध्य में जीवन कायम रहता है। असत्य के मध्य में सत्य का अस्तित्व बना रहता है, इसलिये मैं मानता हूँ कि ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है, वह प्रेम है, वही परम मंगल है।

मगर जिससे महज बुद्धि को ही सन्तोष मिले, वह परमात्मा नहीं है। ईश्वर तो तभी ईश्वर कहा जा सकता है, जब उसका साम्राज्य हृदय पर हो। उसके बंदे के हर एक छोटे छोटे काम में भी उसकी झलक मिलनी चाहिये। यह तो तभी हो सकता है जब उसका सच्चा दर्शन मिले। वह दर्शन पांच इन्द्रियों के ज्ञान से अधिक सच्चा होना चाहिये। इन्द्रियों का ज्ञान हमें चाहे जितना सच्चा क्यों न मालूम हो, किन्तु वह गलत हो सकता है, बहुत बार इन्द्रियां हमें धोका देती हैं। जो ज्ञान इन्द्रियों के परे होता है, उसमें भूल नहीं हो सकती। यह बाहरी प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता है, किन्तु परमात्मा का साक्षात्कार करनेवाले के आचार-व्यवहार तथा चरित्र में परिवर्तन से सिद्ध होता है।

इस प्रकार की साक्षी सभी देशों तथा जातियों के नबियों और ऋषि मुनियों की अटूट पंक्ति के अनुभव में मिलती है। इस प्रमाण को इन्कार करना मानों अपने अस्तित्व को ही इन्कार करना है।

इस तरह के साक्षात्कार के पहिले अचल विश्वास पैदा होता है। जो आदमी स्वयं ही ईश्वर की उपस्थिति की परीक्षा करना चाहे वह जीवंत श्रद्धा से उसका अनुभव कर सकता है। और चूंकि श्रद्धा और विश्वास बाहरी प्रामाणों से सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिये, सब से सुरक्षित मार्ग है संसार के नैतिक शासन में विश्वास रखना और इसलिये नैतिक नियम, सत्य प्रेम के नियम की सर्व्वोपरिता में श्रद्धा रखनी। जहाँ पर सत्य और प्रेम के विरुद्ध हर एक वस्तु को तुरत ही इन्कार कर देता हो, वहाँ पर श्रद्धा या विश्वास का सहारा ही सब से अधिक सुरक्षित है। मगर इन सब बातों को पत्र-लेखक की दलील का जवाब नहीं दिया जा सकता। मैं कबूल करता हूँ

कि उन्हें इन पंक्तियों से विश्वास नहीं दिला सकता। श्रद्धा बुद्धि से परे है। मैं उन्हें इतनी ही सलाह दे सकता हूँ कि आप असंभव काम करने की कोशिश मत कीजिये। युक्तियों के जरिये मैं दुनियां में बुराइयों के अस्तित्व का कारण नहीं समझ सकता। यह करने की चाहना करना तो ईश्वर की ही बराबरी करनी है। इसलिए मैं बुराई को बुराई मान लेने की नम्रता रखता हूँ और ठीक २ इसी लिये मैं ईश्वर को बहुत ही सहनशील और धैर्यशाली कहता हूँ कि वह संसार में बुराइयों को भी रहने देता है। मैं जानता हूँ कि उसमें कुछ बुराई नहीं है, और तौभी अगर बुराई होवे तो वह उसका श्रष्टा है, मगर तौ भी उससे अछूता रहता है। मैं यह भी जानता हूँ कि अगर मैं ठेठ मौत तक का खतरा झेल कर भी बुराइयों के विरुद्ध युद्ध नहीं करूँगा तो मैं परमात्मा को कभी नहीं जान सकूंगा। मेरी श्रद्धा का कवच तो मेरा अपना ही मर्यादित और नम्र अनुभव है। मैं जितना ही शुद्ध विकार-रहित बनने का प्रयत्न करता हूँ, मुझे परमात्मा उतना ही निकट जान पड़ता है। आज तो मेरी श्रद्धा महज नाम की ही है, मगर जिस दिन वह हिमालय पहाड़ के समान अटल हो जायगी, हिमालय की चोटियों पर के बर्फ के समान ही चमकीली और शुभ्र हो जायगी, उस दिन मुझमें और कितनी शक्ति होगी? तब तक मैं पत्र-लेखक को यही कहूँगा कि आप भी न्यूमैन के समान परमात्मा का भजन कीजिये, जिसने अपने अनुभव से गाया था कि:—

चारों ओर फैले हुये अन्धकार में,
हे प्रेमल ज्योति मुझे रास्ता बता, मुझे रास्ता बता।
रात अंधेरी है और मैं घर से बहुत दूर पड़ा हुआ
तू मुझे रास्ता बता,

मेरे रास्ते का हिसाब तू ही रखा कर।
मैं दूर दूर के दृश्य देखने का लोभ नहीं रखता,
मेरे लिये एक ही पग का जाना काफी है।
तू मुझे रास्ता बता।

२—ईश्वर के सम्बन्ध में

एक मित्र यों लिखते हैं :—

"आत्मकथा, (गुजराती) दूसरा खण्ड, पृष्ठ २७७ पर हिंसक जीवों को···'से शुरू होनेवाले वाक्य में नीचे लिखी पंक्तियाँ हैं:—

'कोई ऐसी निरर्थक शंका न करे कि ईश्वर पक्षपात नहीं करता या मनुष्य के रात दिन के कामों में दस्तन्दाजी करने की उसे फुरसत नहीं रहती। इस विषय को, अपने इस अनुभव को दूसरे शब्दों में किस तरह व्यक्त करना चाहिये मैं नहीं जानता। ईश्वर की कृति को लौकिक भाषा में व्यक्त करते हुए भी मैं जानता हूँ कि उसका (कार्य) अवर्णनीय है। अगर कोई पामर मनुष्य उसका वर्णन करता भी है तो अपनी तुतली भाषा में ही आम तौर पर। अगर कोई समाज सर्पादि को न मारते हुए भी पचीस वर्षों तक सही सलामत बना रहे तो उसे आकस्मिक घटना-मात्र न कह कर ईश्वर-कृपा मानने में वहम या भ्रम की बू आती हो तो, वह वहम भी संग्रहणीय है।'

इस पर से हमारे नन्हें-से मण्डल को नीचे लिखी शंकायें हुई हैं, अगर इनका स्पष्टीकरण हमें लिख भेजेंगे तो बड़ी कृपा होगी:—

१—क्या ईश्वर कभी पक्षपात करता है? अगर वह पक्षपात

करेगा तो उसको कौन मानेगा ? आपने यह बात किस कारण लिखी है ?

२—क्या परमेश्वर हर एक काम में दस्तन्दाजी करने में जितना निठल्ला है। उसे दस्तन्दाजी की क्या जरूरत है ? अगर वह दस्तन्दाजी करता है तो पक्षपात भी करेगा, अन्याय भी करेगा।

३—आपके लेख से यह भी पता चलता है कि परमेश्वर का दस्तन्दाजी करना उचित है। आप उसके विरोध में शंका करनेवाले को 'निरर्थक शङ्का' करनेवाला क्यों कहते हैं। क्या बुद्धि गम्य वस्तु को यथासंभव बुद्धि से न समझ कर निरी श्रद्धा का ही आश्रय लेना चाहिये ? इस तरह की श्रद्धा से मनुष्य अन्धश्रद्धा नहीं बनता ?

४—लेकिन मैं समझता हूँ कि आप, 'इस विषय को, अपने इस अनुभव को, दूसरे शब्दों में, किस तरह व्यक्त करना चाहिये मैं नहीं जानता', कह कर अलग से हो जाते हैं। क्या इस वाक्य से यह ध्वनि नहीं निकलती कि आप जो कुछ समझते हैं, वह आपके लिये ही है; दूसरे उसे न भी मानें ? या फिर आप एक बात दृढ़ता-पूर्वक कह नहीं सकते ?

५—साँप वगैरह के भय में से बच जाने को आप अकस्मात् क्यों नहीं मानते ? यह कहना कि मैं ईश्वर की कृपा से बच गया, आपकी निर्बलता नहीं बतलाता ?

किसे आकस्मिक घटना मानना और किसे ईश्वर-कृपा समझना, इसका स्पष्टीकरण कीजियेगा। साथ ही आप लिखते हैं:—ईश्वर कृपा मानना अगर वहम है तो वह वहम भी सग्रहणीय है।

आप यह मानते हैं कि ईश्वर-कृपा वहम नहीं है, फिर भी

उक्त वाक्य में उसे 'तुष्यतु दुर्यनन्याय्येन' की दृष्टि से ही मान लिया है क्या ?

संक्षेप में श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र कौन-कौन से हैं ? किसकी मर्यादा कहाँ तक माननी चाहिये ?"

यह सवाल कइयों के हृदय में उठता है, अतः इस पर थोड़ा विचार कर लें। मित्र के कथनानुसार मेरे लेख में निर्बलता हो सकती है। मैं उसे जानता नहीं। मुझे जैसा अनुभव हुआ है,मैंने लिखा है। लेकिन अनुभव अवर्णनीय है। उसकी तो झांकी भर की जा सकती है। ईश्वर की दस्तन्दाजी की तुलना मनुष्य की दस्तन्दाजी से कैसे की जा सकती है। ईश्वर और उनके नियम भिन्न नहीं हैं। कर्म किसी को छोड़ता नहीं; न ईश्वर किसी को छोड़ता है। दोनों एक वस्तु है। एक विचार हमें कठोर बनाता है दूसरा नम्र। संसार में कोई न कोई अपूर्व चेतनमय शक्ति काम कर रही है, उसे आप चाहे जिस नाम से पुकारें, लेकिन वह हमारे प्रत्येक काम में हस्तक्षेप तो किया ही करती है। हमारा प्रत्येक विचार कर्म है। कर्म का फल होता है। फल ईश्वरीय नियम के आधीन है। यानी हमारे प्रत्येक काम में ईश्वर उसका नियम हस्तक्षेप किया ही करता है। फिर भले हम इसको जानते हों या अनजान हों। स्वीकार करें या अस्वीकार।

इस संसार में आकस्मिक घटना नाम की कोई चीज नहीं है। जो कुछ होता है नियमानुसार होता है। बात केवल यही है कि हमारी पामरता इतनी ज्यादा है कि हम उसकी गति से अनभिज्ञ रहते हैं। मेरे पास होकर साँप चला जाता है तो भी मुझे नहीं काटता, मैं इसे दैवयोग क्यों मानूँ, ईश्वर कृपा क्यों नहीं ? या क्या मैं इसे अपने पुण्य कर्मों का फल मान लूँ ? मगर पुण्य कर्मों के अभिमान का दंश तो सर्प दंश से भी

अधिक जहरीला होता है। ईश्वर के सामने अभिमान चूर-चूर हो जाता है।

श्रद्धा के बारे में पहले लिख चुका हूँ, अतएव दुबारा नहीं लिखूँगा। मैं अन्धश्रद्धा नहीं मानता। जहाँ मैं स्पष्ट ऐहिक कारण अनुभव करूँ वहाँ तो बुद्धि से ही काम लूँगा। लेकिन बुद्धि के थक जाने पर श्रद्धा को आगे बढ़ाऊंगा और अकस्मात् या दैवयोग को एक ओर रख छोड़ूँगा।

लेकिन मैं इस बुद्धिवाद द्वारा ईश्वर पर श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर सकता। मैंने थोड़े तर्क का उपयोग किया है, इसका किसी पर प्रभाव पड़े तो ठीक है। मैं अपने लेखों द्वारा दूसरों में ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर सकता, मैं कबूल करता हूँ कि मेरा अनुभव अकेले मुझे ही मदद कर सकता है, जिन्हें शङ्का हो वे सत्सङ्ग की खोज करें और खोज करने में जो पुरुषार्थ है वह सब को भले मिले।

३—महासभा और ईश्वर

एक मित्र लिखते हैं:—

"आपका खुलासा जानने के लिये मैं एक विषय पर आप से निवेदन करना चाहता था और वह विषय है (ईश्वर) शब्द! एक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता के तौर पर 'यंग इण्डिया' के एक अभी ताजे ही अङ्क में लिखे गये इस वाक्य के खिलाफ कि "मैं इसे (राम नाम को) उन पाठकों को भेंट करता हूँ जिनकी दृष्टि अधिक विद्वत्ता के कारण मन्द नहीं हो गई है और जिनकी श्रद्धा अभी नष्ट नहीं हो पाई है। विद्वत्ता जीवन के कितने ही विभागों में से हमें सफलतापूर्वक निकाल ले जाती है

लेकिन भय और लालच के अवसर पर वह कुछ काम नहीं आती, उस अवसर पर तो केवल श्रद्धा से ही रक्षा होती है" (यं० इं० २२-१-२५ सन् २७) मुझे कुछ कहना नहीं है क्योंकि आपने इसमें अपना व्यक्तिगत विश्वास जाहिर किया है और मैं यह भी जानता हूँ कि मौके मौके पर उन लोगों की तारीफ में जो अन्तःकरण से ईश्वर को नहीं मानते हैं, कुछ शब्द उनके लायक कहने में आप चूके नहीं हैं। उदाहरण के तौर पर नीतिधर्म का यह वाक्य लीजिये—हमें ऐसे बहुतेरे बदमाश मिलते हैं जो अपनी धार्मिकता का अपने तईं अभिमान रखते हैं और बुरे से बुरे अपनीति के काम करते हैं, दूसरे तरफ ऐसे भी शख्स देखे गये हैं जैसे कि स्वर्गीय मि० ब्रेडला जो कि बड़े नीतिमान् और सद्गुणी होने पर अपने को नास्तिक कहलाने में ही अभिमान मानते थे।"

"भय और लालच के अवसर पर जिससे रक्षा होती है उस राम नाम के प्रति श्रद्धा रखने के सम्बन्ध में तो मैं केवल राष्ट्र धर्मी फ्रेंसीस्को फेरर का नाम याद दिलाता हूँ, जो स्पेन में उन लोगों के हाथ शहीद हो गया जिन्हें ईसा मसीह के नाम पर—उनके राम नाम पर विश्वास था। मैं धार्मिक युद्ध के बारे में परधर्मियों को जलाने और उनके हाथ-पैर तोड़ डालने के बारे में और बलिदान के तौर पर पशुओं और कभी कभी तो मनुष्यों को भी पीड़ा देने और उनकी हत्या करने के बारे में अधिक नहीं कहता, यह सब उनके नाम पर और उसका अधिक सम्मान करने के लिये किया गया था। खैर, यह तो दूसरी बात हुई।

एक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता की हैसियत से मैं आपको यह याद दिलाता हूँ कि जब आपने यह कहा था कि केवल ईश्वर से डरने वाले सच्चे असहयोगी बन सकते हैं तब श्री ने (अपने एक राष्ट्रीय

मित्र की तरफ से) उसका विरोध किया था और आपने उस समय उन्हें यह यकीन दिलाया था कि राष्ट्रीय कार्य के इस कार्यक्रम पर अमल करने के लिये मनुष्य को अपने धार्मिक विश्वासों को व्यक्त करना कोई जरूरी नहीं है।

(देखिये यं० इं० ४ मई १९२१, पृष्ठ १३८) महासभा के स्वयं-सेवकों को जो प्रतिज्ञा करनी पड़ती है उसकी शुरुआत ही "ईश्वर को साक्षी रख कर" इस वाक्य से ही होती है। इस लिये अब वह पहले की दलील अधिक जोर के साथ पेश की जा सकती है। आप तो जानते होंगे कि बौद्ध (जैसे कि वर्मा के—और अब हिन्दुस्तानी और आपके मित्र प्रो० धर्मानन्द कोसम्बी) और जैन और दूसरे हिन्दुस्तानी जो इस पुराने सम्प्रदाय को नहीं मानते, उनका धर्म अज्ञेयवादी है। यदि वे चाहें तो भी क्या यह सम्भव हो सकता है कि वे उस प्रतिज्ञा-पत्र पर जिनका आरम्भ ही उसके नाम से होता है, जिसे वे नहीं मानते हैं, अन्तःकरणपूर्वक (दस्तखत करके) महासभा के स्वयंसेवक बन सकेंगे? यदि नहीं तो क्या उन्हें सिर्फ उनके धार्मिक विश्वास के कारण ही बाहर रहने देना ठीक होगा? ऐसे शख्सों को सुभीता कर देने के लिये क्या मैं यह सूचना कर सकता हूँ कि ईश्वर के नाम से प्रतिज्ञा करने के बजाय (कुछ लोग जो ईश्वर को मानते हैं वे भी उसका तो विरोध करते हैं) उन्हें अन्तरात्मा को साक्षी रख कर प्रतिज्ञा करने दिया जाय अथवा जो कोई भी स्वयंसेवक होना चाहें उन सब को बिना भेद के ईश्वर के नाम के बिना ही प्रतिज्ञा लेने का नियम कर दिया जाय।

मैंने आपसे यह निवेदन इसलिये किया है कि आप इस प्रतिज्ञापत्र के रचयिता हैं और आप महासभा के प्रमुख भी हैं। १९२२ में आपकी ऐतिहासिक गिरफ्तारी होने के पहले मैंने

यह निवेदन आपके पास भेजा था। लेकिन उस समय उस पर ध्यान देने का शायद आपको समय न मिल सका होगा।

जहाँ तक अन्तःकरण के उज़्र से सम्बन्ध है, यदि जरूरत हुई तो महासभा के प्रतिज्ञापत्र में से जिसे कि तैयार करने का मुझे अभिमान है, ईश्वर का नाम निकाल दिया जा सकता है। यदि वह उज़्र उसी समय पेश किया गया होता तो मैं फौरन स्वीकार कर लेता। हिन्दुस्तान जैसे स्थान में ऐसे उज़्र के लिये मैं जरा भी तैयार न था। यद्यपि शास्त्रों में चार्वाक मत भी मान लिया गया है तथापि मैं नहीं जानता कि उसके मानने वाले भी हैं। मैं यह नहीं मानता कि बौद्ध और जैन लोग अज्ञेयवादी या नास्तिक हैं। वे अज्ञेयवादी हरगिज नहीं हो सकते। जो लोग आत्मा को शरीर से भिन्न मानते हैं और शरीर के नष्ट हो जाने पर भी उसका स्वतन्त्र हस्ती रहना स्वीकार करते हैं, वे नास्तिक नहीं कहे जा सकते। हम सब ईश्वर की जुदी-जुदी व्याख्यायें करते हैं। हम सब ईश्वर की व्याख्यायें अपनी मरजी के मुताबिक करें तो उतनी ही व्याख्यायें होंगी जितनी कि ईश्वर, स्त्री या पुरुष होंगे, लेकिन इन जुदी-जुदी व्याख्याओं के मूल में भी एक किस्म की अपभ्रान्त सादृश्य होगा, क्योंकि मूल तो सब का एक ही है। ईश्वर तो वह अनिवर्चनीय (लाकलाम) वस्तु है कि जिसका हम सब अनुभव करते हैं, लेकिन हम सब जिसे जानते नहीं। बेशक चार्ल्स ब्रेडला ने अपने को नास्तिक कहा है, लेकिन बहुतेरे ईसाइयों ने उन्हें ऐसा नहीं माना है। मुख से अपने कोई ईसाई कहानेवाले बहुत से लोगों के मुकाबिले में उन्हें ब्रेडला में अनेक तई अधिक समानता मालूम हुई थी। भारतवर्ष के उस भले मित्र की अन्त्येष्टि क्रिया के समय मौजूद रहने का मुझे भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय हमने बहुत से पादरियों को वहाँ

देखा। उनके जनाजे के साथ कुछ मुसलमान् और बहुतेरे हिन्दू भी थे! वे सब ईश्वर के माननेवाले थे। ब्रेडला ने वैसे ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार किया था, जैसा कि वे जानते थे कि उसका वर्णन किया जाता है। उस समय जो शास्त्रीय विचार थे उसके तथा आचार और विचार के भयङ्कर भेद के खिलाफ उनका पांडित्यपूर्ण और तेज विरोध था। मेरा ईश्वर तो मेरा सत्य और प्रेम है। नीति और सदाचार ईश्वर है। निर्भयता ईश्वर है। ईश्वर जीवन और प्रकाश का एक मूल है। और फिर भी इन सब से परे है। ईश्वर अन्तरात्मा ही है। वह नास्तिकों की नास्तिकता भी है। क्योंकि वह अपने अमर्यादित प्रेम से उन्हें भी जिन्दा रहने देता है। वह हृदय को देखने वाला है। वह बुद्धि और वाणी से परे है। हम स्वयं जितना अपने को जानते हैं उससे कहीं अधिक वह हमें और हमारे दिलों को जानता है। जैसे कहते हैं वैसा ही वह हमें नहीं समझता। क्योंकि वह जानता है कि जो हम जबान से कहते हैं, अक्सर वही हमारा भाव नहीं होता। और यह कुछ लोग तो जानकर करते हैं तो कुछ अनजान में। ईश्वर उन लोगों के लिये एक व्यक्ति ही है जो उसे व्यक्ति रूप में हाजिर देखना चाहते हैं। जो उसका स्पर्श करना चाहते हैं उनके लिये वह शरीर धारण करता है। वह पवित्र से पवित्र तत्व है। जिन्हें उसमें श्रद्धा है, उन्हीं के लिये उसका अस्तित्व है। सब लोगों के लिये वह सभी चीज है। वह हम में व्याप्त है और फिर भी हमसे परे है। "ईश्वर" शब्द महासभा के प्रतिज्ञापत्र से निकाल दिया जा सकता है, लेकिन खुद ईश्वर को तो कोई कहीं से नहीं निकाल सकता। ईश्वर के नाम पर ली गई प्रतिज्ञा और केवल प्रतिज्ञा यदि एक वस्तु नहीं है तो फिर प्रतिज्ञा होगी क्या चीज? अन्तरात्मा निश्चय ही ईश्वर शब्द का ही

एक खींचा-तानी अर्थ है। उसके नाम पर भयङ्कर अनीतियुक्त काम किये गये हैं और अमानुषिक अत्याचार भी हुये हैं, लेकिन इससे कुछ उसका अस्तित्व नहीं मिट सकता। वह बड़ा सहनशील है, वह बड़ा धैर्यवान् है लेकिन वह बड़ा भयङ्कर भी है। उसका व्यक्तित्व इस दुनिया में और भविष्य की दुनिया भी सबसे अधिककाम करनेवाली ताकत है। जैसेहम पड़ोसी—मनुष्य और पशु—दोनों के साथ बर्ताव करते हैं वैसा ही बर्ताव वह हमारे साथ भी करता है। उसके सामने अज्ञान की दलील नहीं चल सकती। लेकिन यह सब होने पर भी वह बड़ा रहमदिल है क्योंकि वह हमें पश्चात्ताप करने के लिए मौका देता है। दुनियां में सब से बड़ा प्रजातन्त्र-वादी वही है, क्योंकि वह बुरे-भले को पसन्द करने के लिए हमें स्वतन्त्र छोड़ देता है। वह सबसे बड़ा जालिम है, क्योंकि वह अक्सर हमारे मुँह तक आये हुये कौर को छीन लेता है और इच्छा स्वतन्त्र की ओट में हमें इतना कम छूट देता है कि हमारी मजबूरी के कारण उससे सिर्फ उसी को आनन्द मिलता है। यह सब हिन्दू-धर्म के अनुसार उसकी लीला है, उसकी माया है। हम कुछ नहीं हैं, सिर्फ वही है और अगर हम हों तो हमें सदा उसके गुणों का गान करना चाहिये और उसकी इच्छा के अनुसार चलना चाहिये। आइये, उसकी बन्शी के नाद पर हम नाचें। सब अच्छा ही होगा।

४—मोक्षदाता राम

हमें जिन राम के गुण गाने हैं, वे राम बाल्मीकि के राम नहीं हैं, तुलसी-रामायण के राम भी नहीं हैं—गोकि तुलसी-दास की रामायण मुझे अत्यन्त प्रिय है और उसे मैं अद्वितीय ग्रंथ मानता हूँ, तथा एक बार पढ़ना शुरू करने पर कभी उकताता नहीं, तौभी हम आज तुलसीदास के राम का स्मरण करनेवाले नहीं हैं और न गिरिधरदास के राम का। तब फिर कालिदास और भवभूति के राम का तो कहना ही क्या? भवभूति के उत्तर रामचरित में बहुत सौन्दर्य है, किन्तु वे राम नहीं हैं जिनका नाम लेकर हम भवसागर तर सकें या जिनका नाम हम दुःख के अवसर पर लिया करें। असह्य वेदना से दुःखित आदमी को मैं कहता हूँ, कि 'राम-नाम' लो, अगर नींद न आती हो तौभी कहता हूँ, कि 'लो राम नाम'। किन्तु ये राम तो दशरथ के कुंवर या सीता के पति राम नहीं हैं। ये तो देहधारी राम ही नहीं हैं। जो हमारे हृदय में बसते हैं वे राम देहधारी हो ही नहीं सकते। अँगूठे के समान छोटा सा तो हमारा हृदय और उसमें भी समाये हुये राम देहधारी क्योंकर हो सकते हैं, या तो किसी साल चैत्र की नवमी को उनका जन्म हुआ ही नहीं होगा। ये तो अजन्मा हैं। ये तो पृथ्वी को पैदा करने वाले हैं, संसार के स्वामी हैं। इसलिए हम जिन राम को स्मरण करना चाहते हैं और जिनका स्मरण करना चाहिये वे राम हमारी कल्पना के राम हैं, दूसरे की कल्पना के राम नहीं। इतना याद रखें. तो हमारे मन में जो अनेक प्रश्न उठा करते हैं वे न उठें। कितनी बार सवाल होता है कि बालि का वध करनेवाले राम संपूर्ण पुरुष क्योंकर होंगे। मेरे पास भी ऐसे अनेक प्रश्न आते हैं। इसलिये मैं मन ही

मन हँसता हूँ। किसी ने अगर छल में या सीधी रीति से किसी को मारा अथवा कोई दश शिर का देहधारी रावण हो तो उसी को मार कर कौन-सा भारी काम कर लिया? आज का जमाना तो ऐसा है कि बीस क्या असंख्य भुजा का भी कोई रावण पैदा हो तो एक बालक तोप के एक ही गोले से उनके असंख्य हाथ और माथा उड़ा देवें। उसे हम 'अलौकिक बालक' नहीं गिनेंगे। उसे हम बड़ा राक्षस मानेंगे। मैं मानता हूँ कि मैं राक्षस के बड़े भाई के समान शक्ति पैदा करना नहीं चाहता। उसकी पूजा करने से हमें शान्ति नहीं मिलेगी। हम पूजा करें तो अन्तर्यामी की, जो सब के भीतर है और साथ ही सबसे जुदा है और सबका स्वामी है। उन्हीं के बारे में हमने गाया 'निर्बल के बलराम' इसमें तो 'द्रुपद-सुता निर्बल भई' की भी बात आई है। अब द्रौपदी और देहधारी राम का मेल कहाँ बैठेगा? तो भी कवि ने गया है कि द्रौपदी की लाज राम ने रक्खी। इसमें तो वही राम हैं जो सभी को सामान्य हैं, तौभी जिन्हें कोई पहचान नहीं सकता। हम उसी राम का स्मरण करते हैं। इन अन्तर्यामी राम और कृष्ण में भेद नहीं है।

रामनवमी का पर्व इसीलिये बनाया गया कि इसके निमित्त हम कुछ समय का पालन करें। लड़के कुछ निर्दोष आनन्द लेवें और रामायण पढ़कर कुछ बोध लेवें। देहधारी मनुष्य परमेश्वर को दूसरे तरीके से झट नहीं पहचान सकता। उसकी कल्पना अधिक दूर नहीं दौड़ सकती और इसलिये वह मानता है कि परमेश्वर ने मनुष्य के रूप में अवतार लिया था। हिंदू धर्म में उदारता का पार नहीं है, इसलिये वर्णन किया है कि परमेश्वर मछली के रूप में, बाराह के रूप में और नरसिंह के रूप में अवतरा था। यों मनुष्य ने देहाभ्यास से ईश्वर की कल्पना

देहधारी के रूप में की है और जब तब उसके अवतार लेने की कल्पना की है। कहा है कि धर्म की ग्लानि हो और अधर्म फैल पड़े तो ईश्वर धर्म की रक्षा करने को अवतार लेता है। यह बात भी उसी तरह उतनी हद तक सच्ची है जितनी मैंने कही है, नहीं तो अजन्मा का अवतार ही लेना क्या ? यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कोई ऐतिहासिक पुरुष ईश्वर के रूप में या ईश्वर किसी ऐतिहासिक पुरुष के रूप में अवतरा था। जो जो महापुरुष हो गये हैं उनके गुण देखकर मनुष्यों ने उन्हें पूर्ण अथवा अंशावतार माना और यह जानते हुये कि वाल्मीकीय या तुलसीदास के राम के जुदा जुदा उपासकों ने अपना ईश्वर उन्हीं को माना है, उनके वैसे भजनों को गाने में कोई दोष नहीं है। किन्तु मैंने जो बात तुम्हें पहले कह सुनायी उसे सदा याद रक्खो तो तुम्हारे भ्रमजाल में पड़ने का कोई कारण न रहे। हमारे सामने अगर कोई शंकाएँ रखकर हमें फेर में डालना चाहे तो उसे कहो कि हम किसी देहधारी राम की पूजा नहीं करते हैं। हम तो अपने निरंजन निराकार राम को पूजते हैं। उसके पास सीधे नहीं पहुँच सकते इसलिये जिनसें ईश्वर की मूर्तिमंत कल्पना की है, उन भजनों को गाते हैं।

जब तक हम देह की दीवार की पार नहीं देख सकते तब तक सत्य और अहिंसा के गुण हममें पूरे पूरे प्रकट होनेवाले नहीं हैं। जब सत्य के पालन का विचार करें तब देहाध्यास छोड़ना ही चाहिये, क्योंकि सत्य के पालन के लिये मरना जरूरी होगा। अहिंसा की भी यही बात है। देह तो अभिमान का मूल है। देह के बारे में जिसका राग बचा हुआ है, वह अभिमान से मुक्त हो ही नहीं सकता। जब तक मेरे मन में यह है कि यह देह मेरी है तब तक मैं सर्वथा हिंसा मुक्त होता ही नहीं हूँ। जिसकी अभिलाषा ईश्वर को देखने की है, उसे देह के पार

जाना पड़ेगा, अपनी देह का तिरस्कार करना पड़ेगा, मौत की भेंट करनी पड़ेगी।

ये दो गुण जो मिले तभी हम तर सकेंगे, ब्रह्मचर्यादि का पालन कर सकेंगे। अगर उनका पालन करना चाहें तो सत्य के बिना कैसे चलेगा? सत्य का मुख तो सुवर्णमय पात्र से ढँका हुआ है—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापि हितं मुखम्।' सत्य बोलने, सत्य के आचरण करने का डर क्यों हो? असत्य रूपी चमकीला ढक्कन जब तक दूर न करें तब तक सत्य की झांकी क्योंकर होवे? कोई कसूर करे तो उस पर क्रोध करने के बदले प्रेम करना क्या हमें रुचता है, हम संसार को असार कह कर गाते हैं सही, मगर क्या उसे असार समझते भी हैं?

राम तो कहते हैं कि मुझसे मिलना हो तो इस संसार से भाग जा। मगर शरीर को भगाने से भागा नहीं जाता। असारता की वृत्ति पैदा करके, चौबीस घण्टे काम करते हुये भी हम राम से मिल सकते हैं। यही बात गीता में सिखलाई गई है। गीता को मैं इसीलिये आध्यात्मिक शब्दकोष मानता हूँ। तुलसीदास ने वही वस्तु हमें सुन्दर काव्य के रूप में सिखलाई है।

किन्तु चाबी तो वही है जो मैंने बतलाई है यानी हमारी अपनी कल्पना के ही राम हमें तारेंगे। मेरा राम मुझे तारेगा, आपको नहीं, आपका राम आपको तारेगा, मुझे नहीं। हम सब तुलसीदास के समान सुन्दर काव्य नहीं बना सकते किन्तु जीवन में ईश्वर को उतार कर उसे काव्यमय कर सकते हैं।

५—प्रार्थना किसे कहते हैं

एक डाक्टरी डिग्री प्राप्त किये हुये महाशय प्रश्न करते हैं :—

"प्रार्थना का सबसे उत्तम प्रकार क्या हो सकता है? उसमें कितना समय लगाना चाहिये? मेरी राय में तो न्याय करना ही उत्तम प्रकार की प्रार्थना है और जो मनुष्य सब के साथ न्याय करने के लिये सच्चे दिल से तैयार होता है, उसे दूसरी प्रार्थना करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। कुछ लोग तो सन्ध्या करने में बहुत-सा समय लगा देते हैं। परन्तु सैकड़े पीछे मनुष्य तो उस समय जो कुछ भी बोलते हैं उसका अर्थ भी नहीं समझते। मेरी राय में तो मातृ-भाषा में ही प्रार्थना करनी चाहिये। उसका ही आत्मा पर उत्तम असर पड़ सकता है। मैं तो यह भी कहता हूँ कि सच्ची प्रार्थना यदि एक मिनट के लिए भी की गई हो तो यह भी काफी होगी। ईश्वर को पाप न करने का अभिवचन देना ही काफी है।"

प्रार्थना के माने हैं धर्मभावना और आदरपूर्वक ईश्वर से कुछ मांगना। परन्तु किसी भक्तिभावयुक्त को व्यक्त करने के लिये भी शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेखक के मन में जो बात है उसके लिए भक्ति शब्द का प्रयोग करना ही अधिक अच्छा है। परन्तु उसकी व्याख्या का विचार छोड़ कर हम इसी का ही विचार करें कि करोड़ों हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, और दूसरे लोग रोजाना अपने स्रष्टा की भक्ति करने के लिये निश्चित किये हुये समय में क्या करते हैं। मुझे तो यह मालूम होता है कि वह तो स्रष्टा के साथ एक होने की हृदय की उत्कटेच्छा को प्रकट करना है और उसके आशीर्वाद के लिए याचना करना है। इसमें मन की वृत्ति और भावों को ही महत्व होता है, शब्दों को नहीं। अक्सर पुराने जमाने से जो शब्द

रचना चली आती है, उसका भी असर होता है। जो मातृ-भाषा में उसका अनुवाद करने पर सर्वथा नष्ट हो जाता है। गुजराती में गायत्री का अनुवाद कर उसका पाठ करने पर उस का वह असर न होगा जो कि असल गायत्री में होता है। राम शब्द के उच्चारण से लाखों करोड़ों हिन्दुओं पर फौरन असर होगा और 'गाड' शब्द का अर्थ समझने पर भी उसका उन पर कोई असर न होगा। चिरकाल के उपयोग से और उनके उपयोग के साथ संयोजित पवित्रता से शब्दों की शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए सब से अधिक प्रचलित मन्त्र और श्लोकों की संस्कृत भाषा रखने के लिए बहुत सी दलीलें की जा सकती हैं। परन्तु उनका अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिये यह बात तो बिना कहे ही मान ली जानी चाहिये। ऐसी भक्तियुक्त क्रियायें किस समय करनी चाहिये, इसका कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता है। इसका आधार जुदा जुदा व्यक्तियों में स्वभाव पर होता है। मनुष्य के जीवन में ये क्षण बड़े ही कीमती होते हैं। ये क्रियायें हमें नम्र और शान्त बनाने के लिये होती हैं और उससे हम इस बात का अनुभव कर सकते हैं। उसकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता है और हम तो "उस प्रजापति के हाथ में मिट्टी के पिंड हैं।" ये पलें ऐसी हैं कि इसमें मनुष्य अपने भूतकाल का निरीक्षण करता है, अपनी दुर्बलता को स्वीकार करता है और क्षमा याचना करते हुये अच्छा कार्य करने की शक्ति के लिये लिये प्रार्थना करता है। कुछ लोगों को इसके लिये एक मिनट भी बस होता है तो कुछ लोगों को २४ घंटे भी काफी नहीं हो सकते हैं। उन लोगों के लिये जो ईश्वर के अस्तित्व को अपने में अनुभव करते हैं केवल मिहनत और मजदूरी करना भी प्रार्थना हो सकती है। उनका जीवन ही सतत प्रार्थना और भक्ति के

कार्यों से बना होता है। परन्तु वे लोग जो केवल पाप कर्म ही करते हैं। प्रार्थना में जितना भी समय लगावेंगे उतना ही कम होगा। यदि उन में धैर्य और श्रद्धा होगी और पवित्र बनने की इच्छा होगी,वे तब तक प्रार्थना करेंगे जब तक कि उन्हें अपने में ईश्वर की पवित्र उपस्थिति का निर्णयात्मक अनुभव न होगा। हम साधारण वर्ग के मनुष्यों के लिये तो उन दो सिरे के मार्गों के मध्य का एक और मार्ग भी होना चाहिये। हम ऐसे उन्नत नहीं हो गये हैं कि यह कह सकें कि हमारे सब कर्म ईश्वरार्पण ही हैं और शायद इतने गिरे हुये भी नहीं हैं कि केवल स्वार्थी जीवन ही बिताते हैं। इसलिये सभी धर्मों ने सामान्य भक्तिभाव प्रदर्शित करने के लिये अलग समय मुकर्रर किया है। दुर्भाग्य से इन दिनों यह प्रार्थनायें जहाँ दांभिक नहीं होती हैं वहाँ याँत्रिक और औपचारिक हो गई हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि इन प्रार्थनाओं के समय वृत्ति भी शुद्ध और सच्ची हो।

निश्चयात्मक वैयक्तिक प्रार्थना जो ईश्वर से कुछ मांगने के लिये की गई हो, वह तो अपनी ही भाषा में होनी चाहिये। इस प्रार्थना से कि ईश्वर हमें हर एक जीव के प्रति न्यायपूर्वक व्यवहार रखने की शक्ति दे और कोई बात बढ़ कर नहीं हो सकती है।

६—प्रार्थना में विश्वास नहीं

किसी राष्ट्रीय संस्था के प्रधान के नाम एक विद्यार्थी ने एक पत्र लिखा है, जिसमें उसने उनसे वहाँ की प्रार्थना में न शामिल होने के लिये क्षमा माँगी है। वह पत्र नीचे दिया जाता है:—

"प्रार्थना पर मेरा विश्वास नहीं है इसका कारण यह है कि मेरी धारणा है कि ईश्वर जैसी कोई वस्तु है ही नहीं कि जिसकी प्रार्थना हमको करनी चाहिये। मुझे कभी यह जरूरी नहीं मालूम होता कि मैं अपने लिये एक ईश्वर की कल्पना करूं। अगर मैं उसके अस्तित्व को मानने की झँझट में न पड़ूं तथा शांति और साफदिली से अपना काम करता जाऊँ तो मेरा बिगड़ता क्या है ?

सामुदायिक प्रार्थना तो बिलकुल ही व्यर्थ है। क्या इतने एक आदमी मामूली से मामूली चीज पर भी मानसिक एकाग्रता के साथ बैठ सकते हैं ? यदि नहीं तो छोटे और अबोध बच्चों से यह आशा कैसे रक्खी जाय कि वे अपने चंचल मन को हमारे महान शास्त्रों के जटिल तत्व मसलन् आत्मा, परमात्मा और मनुष्यमात्र की एकात्मता इत्यादि वाक्यों के गूढ़ भावों पर एकाग्रचित्त हों ? इस महान कार्य को अमुक नियत समय में तथा विशेष व्यक्ति की आज्ञा पाने पर ही करना पड़ता है। क्या उस कल्पित ईश्वर के प्रति प्रेम इस प्रकार की किसी यांत्रिक क्रिया के द्वारा बालकों के दिलों में बैठ सकता है ? हर तरह के स्वभाव वाले लोगों से यह आशा रखना कि वह कल्पित ईश्वर के प्रति यों ही प्रेम रक्खे—इसके बराबर नासमझी की बात और क्या हो सकती है ? इसलिये प्रार्थना ज़बरन् न कराई जानी चाहिये। प्रार्थना वे करें जिनको उसमें रुचि हो और प्रार्थना में रुचि न रखनेवाले उसे न करें। बिना दृढ़ विश्वास के कोई काम करना अनीति-मूलक एवं पतनकारी है।"

हम पहले इस अन्तिम विचार की समीक्षा करते हैं। क्या नियम पालन की आवश्यकता को भली भांति समझने लगने के पहिलेउसमें बँधना अनीतिपूर्ण और पतनकारी है ? स्कूल के पाठ्यक्रम की उपयोगिता को अच्छी तरह जाने बिना उस पाठ्य-

क्रम के अनुसार उसके अन्तर्गत विषयों का अध्ययन करना क्या पूर्ण और पतनकारी है ? अगर कोई लड़का अपनी मातृ-भाषा सीखना व्यर्थ मानने लगे तो उसे मातृभाषा पढ़ने से मुक्त कर देना चाहिये ? क्या यह कहना ज्यादा ठीक न होगा कि लड़कों को इन बातों में पड़ने की जरूरत नहीं कि मुझे फलाँ विषय पढ़ना चाहिये और फलाँ नियम पालन करना चाहिये। अगर इस बारे में उसके पास खुद की कोई पसंदगी थी भी तो जब वह किसी संस्था में प्रवेश होने के लिये गया, तब ही वह खत्म हो चुकी। अमुक संस्था में उसके भर्ती होने का अर्थ यह है कि वह उस संस्था के नियमों का पालन सहर्ष किया करेगा। वह चाहे तो उस संस्था को छोड़ भले ही दे, लेकिन जब तक वह उसमें है तब तक यह बात उसके अख्तियार के बाहर है कि मुझे क्या पढ़ना चाहिये और कैसे ? यह काम तो शिक्षकों का है। वे उस विषय को जो कि विद्यार्थियों को शुरू में घृणा और अरुचि उत्पन्न करने वाला मालूम हो उसे रुचिकर और सुगम बना दें।

यह कहना कि मैं ईश्वर को नहीं मानता, बड़ा आसान है; क्योंकि ईश्वर के बारे में चाहे जो कुछ कहा जाय —उसको ईश्वर बिना सज़ा दिये कहने देता है। वह तो हमारे कृतियों को देखता है। ईश्वर के बनाये हुये किसी भी कानून के खिलाफ़ काम करने से वह काम करने वाला सज़ा जरूर पाता है, लेकिन वह सजा सजा के लिये नहीं होती, बल्कि उसे शुद्ध करने और अवश्य ही सुधारने की सिफ़त रखने वाली होती है। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो नहीं सकता और न उसके सिद्ध होने की जरूरत ही है। ईश्वर तो है ही। अगर वह दीख नहीं पड़ता तो यह हमारा दुर्भाग्य है। उसे अनुभव करने की शक्ति का अभाव एक रोग है और उसे हम किसी न

किसी दिन दूर कर देंगे—ख्वाह हम चाहें या न चाहें।

लेकिन विद्यार्थी तर्क करने में न पड़ें। जिस संस्था में वे पढ़ते हैं, अगर उस संस्था में सामुदायिक प्रार्थना करने का नियम है तो नियम-पालन के विचार से भी प्रार्थना में जरूर शरीक होना चाहिये।

विद्यार्थी अपनी शंकायें अपने शिक्षकों के सामने आदर-पूर्वक रख सकता है। जो बात उसे नहीं जँचती, उस पर विश्वास करने की जरूरत उसे नहीं है। अगर उसके चित्त में गुरुओं के प्रति आदर है तो वह गुरु के बतलाये काम को उसकी उपयोगिता में दृढ़ विश्वास रखे बिना भी करेगा—भय के मारे या बेढंगेपन से नहीं, बल्कि इस निश्चय के साथ कि उसे करना उसका कर्तव्य है और यह आशा रखते हुए कि जो आज उसके समझ में नहीं आता, वह किसी न किसी दिन जरूर आजायेगा।

प्रार्थना करना याचना करना नहीं है, वह तो आत्मा की पुकार है— वह अपनी त्रुटियों को नित्य स्वीकार करना है। हम में से बड़े से बड़े को मृत्यु रोग, वृद्धावस्था, दुर्घटना इत्यादि के सामने अपनी तुच्छता का भान हरदम हुआ करता है। जब अपने मनसूबे लहमे भर में मिट्टी में मिलाये जा सकते हैं, जब अचानक या पल भर में हमारी खुद हस्ती मिटाई जा सकती है, तब "तब हमारे मनसूबों" का मूल्य ही क्या है? लेकिन अगर हम यह कह सकें कि "हम तो ईश्वर के निमित्त तथा उसी की रचना अनुसार ही काम करते हैं" तब हम अपने को मेरु की भाँति अचल मान सकते हैं। तब तो कुछ फसाद ही नहीं रह जाता। उस हालत में नाशवान कुछ भी नहीं है। तथा दृश्य जगत ही नाशवान् मालूम होगा। तब लेकिन केवल मृत्यु और विनाश सब असम् मालूम होते

होते हैं, क्योंकि मृत्यु या विनाश उस हालत में एक रूपान्तर मात्र है—उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक शिल्पी अपने एक चित्र को इससे उत्तम चित्र को इससे उत्तम चित्र बनाने के हेतु नष्ट कर देता है और जिस प्रकार एक घड़ीसाज अच्छी कमानी लगाने के अभिप्राय से रद्दी को फेंक देता है।

सामुदायिक प्रार्थना बड़ी बलवती वस्तु है। जो काम हम प्रायः अकेले नहीं करते, उसे हम सब के साथ करते हैं। लड़कों को निश्चय कीं आवश्यकता नहीं। अगर वे महज अनुशासन के पालनार्थ ही सच्चे दिल से प्राथना में सम्मिलित हों तो उनको प्रफुल्लता का अनुभव होगा।

लेकिन उनके विद्यार्थी ऐसा अनुभव नहीं करते। वे तो प्रार्थना के समय उल्टे, शरारत किया करते हैं। लेकिन तिस पर भी अप्रकट रूप से होनेवाला फल रुक नहीं सकता। वे क्या लड़के नहीं हैं जो अपने प्रारम्भ-काल में प्रार्थना में महज ठट्ठा करने के लिये ही प्रार्थना में शरीक होते थे लेकिन जो कि बाद को सामुदायिक प्रार्थना की विशिष्टता में अटल विश्वास रखनेवाले हो गये ? यह बात सभी के अनुभव में आई होगी कि जिनमें दृढ़ विश्वास नहीं होता, वे सामुदायिक प्रार्थना का सहारा लेते हैं। वे सब लोग जो कि गिरजाघरों, मन्दिरों और मस्जिदों में इकट्ठा होते हैं, न तो कोरे टीकाबाज हैं और न पाखंडी। वे ईमान लोग हैं। उनके लिये तो सामुदायिक प्रार्थना नित्य स्नान की भांति एक आवश्यक नित्य-कर्म है। प्रार्थना के स्थान महज वहम नहीं हैं, जिनको जल्दी से जल्दी मिटा देना चाहिये। वे आघात सहते रहने पर भी अब तक मौजूद हैं और अनन्त काल तक बने रहेंगे।

७—शब्दों का अत्याचार

३० सितम्बर के 'हिन्दी-नवजीवन' में प्रकाशित, मेरे लेख "प्रार्थना में विश्वास नहीं" पर एक पत्र-लेखक लिखते हैं :—

"उपर्युक्त शीर्षक के अपने लेख में न तो उस लड़के के प्रति और एक महान विचार के रूप में न अपने ही प्रति आप न्याय करते हैं। यह सच है कि उसके पत्र के सभी शब्द बहुत मुनासिब नहीं हैं, किन्तु उसके विचारों के स्पष्टता के विषय में तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। "लड़का" शब्द का अर्थ आज समझ जाता है, उसके अनुसार यह स्पष्ट मालूम होता है कि वह लड़का नहीं है। मुझे यह सुन कर बहुत आश्चर्य होगा कि वह २० वर्ष से कम उम्र का है। अगर वह कमसिन भी हो तो भी उसका मानसिक विकास हो चुका है कि उसे यह कह कर चुप नहीं कराया जा सकता कि—"बच्चों को बहस नहीं करनी चाहिये।" पत्र-लेखक बुद्धि-वादी हैं और आप हैं श्रद्धावादी। ये दोनों भेद युग-प्राचीन हैं और इनका झगड़ा भी उतना ही पुराना है। एक की मनोवृत्ति है—मुझे कायल कर दो और मैं विश्वास करने लगूँगा। दूसरे की मनोवृत्ति है—पहले विश्वास करो तो पीछे से आप ही कायल हो जावोगे।" पहला अगर बुद्धि को प्रमाण मानता है तो दूसरा आप्त वाक्य को श्रद्धालु पुरुषों को मालूम होता है कि आप की समझ में कम उम्र लोगों की नास्तिकता अल्पस्थायी होती है और जल्दी से या देरी से कभी न कभी विश्वास जरूर पैदा होता ही है, आपके समर्थन में स्वामी विवेकानन्द का प्रसिद्ध उदाहरण भी मिलता है। इसलिए आप लड़के को—उसी के लाभ के लिए प्रार्थना का एक घूँट जबरन् पिलाना चाहते हैं। इसके लिए आप दो प्रकार के कारण बतलाते हैं। पहल

अपनी तुच्छता, अशक्तता, ईश्वर कहे जाने वाले उस महा प्राणी के बड़प्पन, और भलमनसाहत को अपने आप स्वीकार करने के लिए प्रार्थना करना। यानी प्रार्थना एक स्वतन्त्र कर्तव्य है। इसलिये दूसरा—जिन्हें शान्ति और सन्तोष की जरूरत है उन्हें शान्ति और संतोष देने में यह उपयोगी है इसलिये पहले मैं दूसरे तर्क का ही खंडन करूँगा। यहाँ प्रार्थना को कमजोर आदमी के लिए सहारा के रूप में माना गया है। जीवन-संग्राम की जाँचें, इतनी कड़ी हैं। मनुष्यों की बुद्धि का नाश कर देने की उनमें उतनी अधिक ताकत है कि बहुत लोगों की प्रार्थना और विश्वास की जरूरत पड़ सकती है। उन्हें इसका अधिकार है और उन्हें वह मुबारक हो लेकिन प्रत्येक युग में ऐसे कुछ सच्चे बुद्धिवादी थे, और हमेशा हैं—उनकी संख्या बेशक कुछ कम रही है, जिन्हें प्रार्थना या विश्वास की जरूरत का कभी अनुभव नहीं हुआ। इसके अलावा ऐसे लोग भी तो हैं जो धर्म के प्रति लोहा भले ही न लेवें मगर उससे उदासीन अवश्य हैं।

"चूँकि सब किसी को अन्त में प्रार्थना की सहायता की जरूरत नहीं पड़ती है और जिन्हें इसकी जरूरत मालूम होती है उन्हें इसे शुरू करने का पूरा अधिकार है और सच पूछो तो जरूरत पड़ने पर वे करते भी हैं। इसलिए उपयोगिता की दृष्टि से तो प्रार्थना में बलप्रयोग का समर्थन किया ही नहीं जा सकता। शारीरिक व्यायाम और शिक्षण आवश्यक हो सकते हैं।

किन्तु नैतिक उन्नति के लिए प्रार्थना और ईश्वर में विश्वास भी वैसे ही आवश्यक नहीं है। संसार के कुछ बड़े नास्तिक सब से अधिक नीतिमान हुए हैं। मैं समझता हूँ कि उनके लिए आप मनुष्य की अपनी नम्रता स्वीकार करने के रूप में,

प्रार्थना की सिफारिश करेंगे। यह आपका पहला तर्क है। इसे नम्रता का नाम बहुत लिया जा चुका है। ज्ञान का सागर इतना बड़ा है कि बड़े से बड़े वैज्ञानिकों को भी अपना छोटा-पन स्वीकार करना पड़ा है। किन्तु सत्य के शोध में उन्होंने बहुत शौर्य दिखलाया है। प्रकृति के ऊपर जैसी बड़ी बड़ी विजयें उन्होंने पाईं, वैसा ही बड़ा विश्वास भी उनको अपनी शक्ति में था। अगर ऐसी बात न होती तो आज तक हम या तो खाली उँगलियों से जमीन में कन्द मूल नोचते फिरते होते, या सच पूछो तो शायद दुनिया से हमारा अस्तित्व ही गायब होगया रहता।

"हिमयुग में जब लोग शीत से मर रहे थे, जिसने पहले पहल आग का पता लगाया होगा, उससे आपकी श्रेणी के लोगों ने व्यङ्ग से कहा होगा कि—"तुम्हारी योजनाओं से क्या लाभ है। ईश्वर की शक्ति और कोप के सामने उनकी क्या हकी-कत ?" उसके बाद से नम्र पुरुषों के लिए इस जीवन के बाद स्वर्ग का राज्य दिया गया। इसका तो हमें पता नहीं कि वे उसे सचमुच पावेंगे या नहीं, किन्तु इस संसार में तो उनके हिस्से गुलामी ही पड़ी है। अब प्रकृत विषय की ओर हम फिरें। आपका दावा कि—"विश्वास करो। श्रद्धा अपने आप आ जायेगी"—बिल्कुल सही है। भयङ्कर रूप से सही है। इस दुनिया की बहुत कुछ धर्मान्धता की जड़ इसी प्रकार की शिक्षा में मिलती है। अगर आप कुछ लोगों को काफी बचपन ही में पकड़ पावें, उन्हें एक ही बात काफी दिनों तक बार बार बतलाते रहें तो आप उनका विश्वास किसी भी विषय में जमा सकते हैं। इसी प्रकार आपका पक्के धर्मान्ध हिन्दू और मुसलमान तैयार किये जाते हैं। दोनों ही सम्प्रदायों में से ऐसे थोड़े आदमी जरूर होंगे जो अपने ऊपर लादे गये

विश्वास के जामें से बाहर निकल पड़ेंगे। आपको क्या इसकी खबर है कि अगर हिन्दू और मुसलमान, अपने धर्मशास्त्रों को परिपक्व बुद्धि होने के पहले न पढ़ें तो वे उनके माने हुये सिद्धान्तों के ऐसे अन्धविश्वासी न होंगे और उनके लिये झगड़ना छोड़ देंगे। हिन्दू-मुसलिम दङ्गों की दवा है लड़कों की शिक्षा में धर्म को दूर रखना, किन्तु आप इसे पसन्द नहीं करेंगे। आपकी प्रकृति ही ऐसी नहीं है।

"आपने इस देश में जहाँ साधारणतः लोग बहुत डरते हैं, साहस कार्यशीलता और त्याग का अपूर्व उदाहरण दिखलाया है। इसके लिए हम लोगों के ऊपर आपका बहुत बड़ा ऋण है। किन्तु जब आपके कामों की अन्तिम आलोचना होने लगेगी तब कहना ही पड़ेगा कि आपके प्रभाव से, इस देश में मानसिक उन्नति को बहुत बड़ा आघात पहुँचा है।"

अगर २८ वर्ष के किशोर को लड़का नहीं कहा जा सके तो फिर मैं लड़का शब्द का (प्रचलित) अर्थ ही नहीं जानता। सचमुच में मैं तो उम्र का ख्याल किये बिना ही, स्कूल में पढ़ने वाले सभी किसी को लड़का या लड़की ही कहूँगा। मगर उस सन्देहालु विद्यार्थी को हम लड़का कहें या स्याना आदमी, मेरा तर्क तो जैसा का तैसा ही रहता है। विद्यार्थी एक सैनिक वैसा होता है और सैनिक की उम्र ४० साल की हो सकती है। जो नियम सम्बन्धी बातों के विषय में कुछ भी नहीं कह सकते, अगर उसने उसे स्वीकार कर लिया है, और उसके अधीन रहना पसन्द किया है। अगर सिपाही को किसी आज्ञा का पालन करने या न करने का अधिकार अपने स्वेच्छा से प्राप्त हो तो वह अपनी सेवा में नहीं रखा जा सकता। उसी प्रकार कोई भी विद्यार्थी चाहे वह कितना ही स्याना और बुद्धिमान् क्यों न हो किन्तु एक बार किसी स्कूल में जभी आप दाखिल

हो जाता है तभी उसके नियमों के विरुद्ध चलने का अधिकार खो बैठता है। यहाँ उस विद्यार्थी की बुद्धि का कोई अनादर या अवगणना नहीं करता। संयम के नीचे स्वेच्छा से आना ही बुद्धि के लिये एक सहायता स्वरूप है। किन्तु मेरे पत्र-लेखक शब्दों के अत्याचार का भारी जुआ खुशी से अपने कन्धे पर सहते हैं। काम करने वाले के हरएक काम में जो उसे पसन्द न पड़े उन्हें बलात्कार की गन्ध मिलती है। मगर बलात्कार भी कई प्रकार का होता है। स्वेच्छा से स्वीकृत बलात्कार का नाम हम आत्म-संयम् कहते हैं। उसे हम छाती से लगा लेते हैं और उससे नीचे हमारा विकास होता है। किन्तु हमारी इच्छा के विरुद्ध जो बलात्कार हमारे ऊपर लादा जाता है वह भी इस नियत से कि हमारा अपमान किया जाय और मनुष्य या यों कहो कि लड़के की हैसियत से हमारे मनुष्यत्व का हरण किया जाय, वह दूसरा बलात्कार ऐसा होता है उसका प्राण-प्रण से त्याग करना चाहिये। सामाजिक संयम साधारणतः लाभदायक ही होते हैं किन्तु उनका हम त्याग करके आप हानि उठाते हैं। रेंग कर चलने की आज्ञाओं का पालन करना नामर्दी और कायरता है। उससे भी बुरा है उन विकारों के समूह के आगे झुकना जो दिन रात हमें घेरे रहते हैं और हमें अपना गुलाम बनाने को तैयार रहते हैं।

किन्तु पत्र लेखक का अभी एक और शब्द है जो अपने बन्धन में बाँधे हुये है। यह महा शब्द है "बुद्धिवाद"। हाँ मुझे इसकी पूरी मात्रा मिली थी। अनुभव ने मुझे इतना नम्र बना दिया है कि मैं बुद्धि के ठीक ठीक हदों को समझ सकूं। जिस प्रकार गलत स्थान पर रखे जाने से कोई वस्तु गन्दगी गिनी जाने लगती है उसी प्रकार बेमौके प्रयोग करने से बुद्धि को भी पागलपन कहा जाता है। जिसका जहाँ तक अधिकार

है। अगर उसका प्रयोग हम वहीं तक करें तो सब कुछ ठीक रहेगा।

बुद्धिवाद के समर्थक पुरुष प्रशंसनीय होते हैं किन्तु बुद्धि-वाद को तब भयङ्कर राक्षस का नाम देना चाहिये जब वह सर्व-ज्ञता का दावा करने लगे। बुद्धि को ही सर्वज्ञ मानना, उतनी ही बुरी मूर्तिपूजा है जितनी ईंट पत्थर को ईश्वर मानकर पूजा करना। प्रार्थना की उपयोगिता को किसने तर्क से निकालकर जाँचा है। अभ्यास के बाद ही उनकी उपयोगिता का पता चलता है। संसार की गवाही यही है। जिस समय कार्डिनल न्यूमेन ने गाया था कि—"कि मेरे लिये एक पग ही काफी है"—उन्होंने बुद्धि का त्याग नहीं कर दिया था, किन्तु प्रार्थना को उससे ऊँचा स्थान दिया था। शङ्कराचार्य तो तर्कियों के राजा थे संसार के साहित्य में शायद ही ऐसी कोई वस्तु हो जो शङ्कर के तर्कवाद से आगे बढ़ सके किन्तु उन्होंने पहला स्थान प्रार्थना और भक्ति को ही दिया था।

पत्र लेखक ने क्षणिक और क्षोभक घटनाओं को लेकर साधारण नियम बनाने में जल्दी की है। इस संसार में सभी वस्तुओं का दुरुपयोग होने लगता है। मनुष्य की सभी वस्तुओं के लिये यह नियम लागू मालूम होता है। इतिहास में कई एक बड़े-बड़े अत्याचारों के लिये धर्म के झगड़े ही उत्तरदायी हैं। यह धर्म का दोष नहीं है किन्तु मनुष्य के भीतर दुर्दमनीय पशुता का है। मनुष्य के पूर्वज पशुओं का गुण उसमें अभी भी शेष है।

मैं एक भी ऐसे बुद्धिवादी को नहीं जानता हूँ जिसने कभी एक भी काम केवल विश्वास के वशीभूत होकर न किया हो बल्कि सभी का तर्क के द्वारा निश्चय करके किया हो। किन्तु हम सब उन करोड़ों आदमियों को जानते हैं, जो अपना नियमित जीवन इसी कारण बिता पाते हैं कि हम सब के

बनानेवाले, सृष्टिकर्त्ता में उनका अटल विश्वास ही एक प्रार्थना है। वह लड़का, जिसके पत्र के आधार पर मैंने अपना लेख लिखा था, उस बड़े मनुष्य समुदाय में एक है और उसे और उसी के समान दूसरे सत्यशोधकों को अपने पथ पर दृढ़ करने लिये लिखा गया था, पत्र लेखक के समान बुद्धिवादियों को शान्ति को लूटने के लिये नहीं।

मगर वे तो उस झुकाव से ही झगड़ते हैं जो शिक्षक या गुरू जब बालकों को बचपन में देना चाहते हैं। मगर यह कठिनाई (अगर कठिनाई है तो) बचपन की उस उम्र के लिये जब असर डाला जा सकता है बराबर ही बनी रहेगी।

शुद्ध धर्महीन शिक्षा भी बच्चों के मन की शिक्षा का एक ढङ्ग है। पत्र-लेखक यह स्वीकार करने की भलमनसाहत दिखलाते हैं कि मन और शरीर को तालीम दी जा सकती है और रास्ता सुझाया जा सकता है। आत्मा के लिए,जो शरीर मन को बनाती है, उन्हें कुछ पर्वा नहीं है। शायद उसके अस्तित्व में ही उन्हें कुछ शंका है। मगर उन के अविश्वास से उनका कुछ काम नहीं सरेगा। वे अपने तर्क के परिणाम से बच नहीं सकते। क्योंकि कोई विश्वासी सज्जन क्यों पत्र लेखक के ही क्षेत्र पर बहस करे कि जैसे दूसरे लोग बच्चों के मन और शरीर पर असर डालना चाहते हैं, वैसे ही आत्मा पर भी असर डालना जरूरी है। सच्ची धार्मिक भावना के उदय होते ही धार्मिक शिक्षा के दोष गायब हो जायेंगे। धार्मिक शिक्षा को छोड़ देना वैसे ही है कि जैसे किसी किसान ने यह न जान कर कि खेत का कैसा उपयोग करना चाहिये, उसमें खर पात उग जाने दिया हो।

आलोच्य विषय से महान् अधिकारों का वर्णन, जैसा कि लेखक ने किया है, बिल्कुल अलग है। उन आविष्कारों की

उपयोगिता या चमत्कारिता में कोई सन्देह नहीं करता है मैं नहीं करता। बुद्धि के समुचित उपयोग के लिये वे ही साधारणतः समुचित क्षेत्र थे। किन्तु प्राचीन लोगों ने प्रार्थना और भक्ति की मूल भित्ति को अपने जीवन से दूर नहीं कर दिया था। श्रद्धा और विश्वास के बिना जो काम किथा जाता है वह उस बनावटी फूल के समान होता है, जिसमें सुवास न हो। मैं बुद्धि को दबाने को नहीं कहता किन्तु हमारे बीच जिस वस्तु ने बुद्धि को ही पवित्र बनाया है, उसे स्वीकार करने को कहता हूँ।

८—प्रभु बड़े या गुरु ?

ऊपर शीर्षक के नीचे एक गृहस्थ ने यह लेख भेजा है:—

"कलकत्ते के गोविन्द भवन की दिल कंपानेवाली बात सुन कर सारे मारवाड़ी समाज में खलबली मच गई है। अपने को सनातनी कहलाने वाले पुराने विचार के मारवाड़ियों में भी बहुत हाहाकार मच रहा है। 'नवजीवन' में आपने एक लेख लिखकर ऐसा मत दिखलाया है कि:—

१—बहिनों को मनुष्य का सेवन, पूजन छोड़ के परमेश्वर के पूजन में ही लक्ष्य रखना चाहिये।

२—किन्तु सोलन के विचारानुसार कोई आदमी चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न माना जाता हो, जब तक वह जीता है, तब तक पार पहुँचा नहीं कहा जा सकता ? इसलिए जीवित मनुष्यों का सेवन, पूजन, स्त्रियों के लिये अयोग्य है।

"आपके लेख का यह भावार्थ मुझे बहुत पसंद पड़ा है। किन्तु उसके सामने पहाड़ के समान धार्मिक कठिनाइयाँ खड़ी

हैं। आपने शायद उनका विचार न किया हो। 'नवजीवन' में इस बात पर थोड़ी बहुत चर्चा हो, इस हेतु नीचे के मुद्दों पर आपका ध्यान खींचता हूँ

"हिन्दू धर्म के बहुत से मतों और पथों का ऐसा सिद्धांत है कि मनुष्य को सीधे अपने आपही परमेश्वर नहीं मिल सकता। इसलिये आत्मा और परमात्मा का एकता के लिए एक तीसरे आदमी की जरूरत पड़ती है। इस आत्मा और परमात्मा की एकता कराने की दावा करने वाले आदमी की पदवी परमात्मा से भी बड़ी गिनी जाती है। सारे हिन्दुस्तान में प्रचलित इस दोहे को तो आपने सुनाही होगा।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काको लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दिया बताय॥

फिर दादूदयाल नाम के गुजरात के एक ब्राह्मण का एक पंथ पञ्जाब में चलता है। इस पंथ में दादूदयाल के शिष्य सुन्दरदास कवि का लिखा सुन्दर विलास नाम से ग्रंथ बहुत प्रचलित है। उसमें लिखा है :—

गोविन्द के किये जिव जात है रसातल में,
गुरु जो कृपा करैं तो छूटे जम फंद ते॥

"मतलब यह कि प्रभु के बनाये जीव नरक में जायँगे किन्तु जिन पर गुरु ने कृपा करके जिन्हें मार्ग दिखलाया होगा, केवल वे ही तरेंगे.

"गोस्वामी श्रीतुलसीदास महाराज की रामायण में से भी एक वचन बारंबार बताया जाता है। वह यह रहा :—

मोरे तो मन प्रभु अस विश्वासा।
राम से अधिक राम कर दासा॥

"वल्लभी पंथ का ऐसा सिद्धान्त है कि जब गुरु 'ब्रह्म-संबंध' करें, तभी उद्धार हो सकता है। इसके बिना चाहे कोई कैसा ही

नीतिमान् सद्गुणी या शक्तियुक्त हो, मगर उद्धार नहीं होता। वल्लभाचार्य को भगवान् प्रत्यक्ष मिले और उन्होंने कहा, "जिन जिनको शरण में लेकर मुझे सौंपोगे, उनको मैं तारूँगा।" इसलिये वल्लभी पंथ के गुरु अपने सेवकों और सेविकाओं का ब्रह्म-संबंध कराते हैं। वल्लभाचार्य ने सिद्धान्त-रहस्य नामक की एक किताब लिखी है। उसके पहले तीन श्लोकों का मतलब यह है:—

"साक्षात् भगवान ने जो मुझसे मिलकर कहा है वह अक्षर-अक्षर मैं सुनता हूँ। ब्रह्मसंबध लेने से देह के तथा जीव के सब पाप जल कर भस्म हो जाते हैं। लोगों में और वेद में जो पाँच महापाप बतलाये हैं, उन्हें बिलकुल न मानना। ब्रह्मसंबंध लिये बिना, किसी तरह से भी दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती। इन वल्लभाचार्य को भगवान से भी बड़ा दिखलाने के लिये उन्हें महाप्रभुजी का नाम दिया गया है। यह तो मैंने केवल थोड़े से ही उदाहरण बतलाये। दूसरे अभी बहुत से हैं, किन्तु उन्हें छोड़कर अब ख़ुद गोविन्द भवन के बारे में लिखता हूँ। पिछले रामनवमी पर कलकत्ते से गोविन्द भवन के एक मारवाड़ी भक्त भक्ति का प्रचार करने बंबई पधारे थे। उनका विज्ञापन गुजराती पत्रों में भी छपा है। कालवा देवी रास्ते पर एक मकान में उनका व्याख्यान था। मैं जब देखने गया तब, इस भक्त के मान में ढोल, ताशा, झाल, ब्यूगल झाँझ, नगारा और पिपुही कितने आदमी बजा रहे थे। कोई तीस पैंतिस आदमी तो सिर्फ़ गुलाबजल ही फूलदानियों में भर कर उन पर छींट रहे थे, और फूल के तो टोकरों पर टोकरे खाली कर उन पर बरसा रहे थे। कोई पंखा हाँक रहे थे। मैंने लोगों से पूछा तो सभी ने यही कहा कि ये बहुत बड़े सन्त हैं और उन्हें प्रभु का साक्षात्कार हो चुका है। इस बात की पूरी जाँच छोड़कर मैं यही पूछना चाहता हूँ कि आपने तो बहिनों को मनुष्य-पूजा छोड़ कर प्रभु को भजने की शुभ सिखावन दी

मगर ये सभी बातें जो आपकी दलील को तोड़ती हैं, उनका क्या हो ? प्रभु के पक्ष पहुँचानेवाले आदमी, प्रभु से भी बहुत बड़े बनकर अपने पैर भोले भावुकों से पुजवा रहे हैं। उनका माहात्म्य पुराने ग्रन्थों में भी बहुत गाया गया है। इसलिये यह उनके पक्ष में लाभदायी बात हो गई है। इसलिये इस संबन्ध में मैं जो सलाह (नवजीवन) के द्वारा माँग रहा हूँ, उससे बहुतों को लाभ होगा और वह सार्वजनिक समाज के लिये हितक सिद्ध होगा।"

"मारवाड़ी भक्त के बारे में जो लिखा है, वह मैं नहीं जानता। सिद्धान्त रहस्य नामक पुस्तक में से तीन श्लोकों का मतलब जो भेजा गया है, वे श्लोक भी मैंने नहीं देखे हैं। किन्तु इस लेख में जो लिखा है, वैसी मान्यता हिन्दू धर्म में है। इस विषय में शङ्का नहीं है। मैं आप ही नित्य प्रातःकाल में नीचे का श्लोक गाता हूँ—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥

और गुरु के माहात्म्य के बारे में हिन्दू धर्म की मान्यता के लिये सबल कारणों का होना भी मैं मानता हूँ इसीलिये मैं गुरु शब्द का शुद्ध अर्थ ढूँढ़ रहा हूँ! और जब तक कहता हूँ कि मैं गुरु की खोज में हूँ। जिस गुरु में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर का लय हो और साक्षात् परब्रह्म सम हो, वह देहधारी विकारी और रोगी मनुष्य नहीं होगा, किन्तु उसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की सारी शक्ति होगी, यानी वह आदमी मुख्य करके हमारे कल्पना में ही होगा और वह गुरुइष्टदेव केवल सत्य की मूर्त्ति परमात्मा ही होगा। इसलिये गुरु की खोज परमात्मा की खोज के बराबर हुई। विचार करते हुये जो जो वस्तुयें लेखक ने लिखी हैं वे सरल हो जाती हैं। जो गोविन्द को बता

सके वह अवश्य ही गुरु होने लायक है और चाहे वह पीछे भले ही गोविन्द से भी बड़ा गिना जाय। गोविन्द के बनाये जीवों को अनन्त दुःख भोगते हुये देखते हैं, किन्तु हमें जो इस फन्द से छुड़ा सके वह खुशी से गोविन्द से भी बड़ा पद लेवे। यही आशय 'राम से अधिक राम कर दासा' में है। इन सभी महावचनों का अर्थ इतना स्पष्ट है कि अगर हम सरल हृदय से ढूँढ़ें तो प्रपञ्च में बिलकुल न पड़ें, और अनर्थ में न पड़ें। हर एक महावचन में अनिवार्य शर्त्त जुड़ी हुई होती ही है। जो हमें प्रेम धर्म सिखलावे, जो हमें भयमुक्त करे, सादगी सिख-

लावे, गरीब से भी गरीब के साथ ऐक्य साधने की बुद्धि ही नहीं बल्कि ऐक्य का अनुभव करने का हृदय बल भी देवे वह हमारे लिये अवश्य ईश्वर से भी बड़ा है। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि ईश्वर का ऐसा दास अलग स्वतन्त्र रूप ईश्वर से बड़ा है। समुद्र में हम पड़ें तो डूब जावेंगे मगर इस समुद्र में बहने वाली गंगा के मूल से एक लोटा जल प्यास लगने पर लेकर पीवें तो उस समय यह गंगाजल समुद्र से भी बड़ा है। किन्तु वही गंगा जल वहाँ से लेने जाँय जहाँ समुद्र में गंगा मिलती हैं तो वह ज़हर के समान हो पड़ता है। ऐसा ही गुरु के विषय में समझना चाहिये। जिनमें दम्भ है, ईर्षा है, जो सेवा के भूखे हैं, उन्हें गुरु मान बैठना तो अनेक प्रकार के गंदे पानियों के समुद्र में पड़े हुये गंगा नदी के ज़हीरले पानी के समान समझना चाहिये। अभी तो हम धर्म के नाम पर अधर्म का आचरण करते हैं, सत्य के नाम पर पाखंड का पोषण करते हैं, और ज्ञानी होने का डाल करके अनेक प्रकार की पूजा करा कर आप अधोगति को प्राप्त होते हैं और साथ में दूसरों को भी ले डूबते हैं। ऐसे समय में किसी को गुरु करने के बारे में बिलकुल अस्वीकार करने का ही धर्म प्राप्त होता है। सच्चे

गुरु न मलें तो मिट्टी के पुतले को गुरु बनाकर बैठाने में दुहरा पाप है किन्तु जब तक सच्चे गुरु न मिलें तब तक 'नेति' नेति कहने में पुण्य है। इतना ही नहीं किन्तु उसको किसी दिन सच्चे गुरु के मिलने का भी प्रसंग आ सकता है।

इससे मुझे बहुत से कड़वे मीठे अनुभव हुये हैं और अब भी हुआ करते हैं कि चलती धारा का विरोध करने में बहुत सी मुसीबतें रही हैं। किन्तु उनमें से मैंने एक बात यह माखी है कि जिस वस्तु में अनीति है, जिसका खंडन होना ही चाहिये उसका विरोध एकाकी होने पर भी हमें करना ही चाहिये और वह बात विरोध से अगर अधिक सच्ची होगी तो जरूर सफल होगी हो। ऐसा विश्वास सदैव रखना उचित है।

जो भक्त स्तुति का या पूजा का भूखा है, जो मान न मिलने से चिढ़ जाता है, वह भक्त नहीं है। भक्त की सच्ची सेवा आप भक्त बनने में है। इसलिये आजकाल चलनेवाली मनुष्य-पूजा का जहाँ तक हो सकता है मैं विरोध ही करता हूँ और सबको विरोध करने के लिये प्रेरित करता हूँ।

९—अनन्य भक्त हनुमान

हनुमान् के अनुकरण का पहला पाठ यह है कि हम जो काम करते हों, उसी में सभी इन्द्रियों को लगा देवें। यह करने के लिये आँखें निश्चल और सच्ची रखनी चाहिये। आँखें सारे शरीर का दीपक हैं, और आत्मा का भी दीया कहें तो चल सकेगा क्योंकि जब तक शरीर में आत्मा है, तब तक आंख से उनकी परीक्षा हो सकती है। मनुष्य अपने वचन से शायद आडंबर करके उसे आप छिपावे मगर उसकी आंखें उसे जाहिर

कर देंगी। इसकी आंख सीधा निश्चल न हो तो अंतर परख लिया जायेगा। जिस भांति जीभ की परीक्षा करके हम शरीर के रोग परखते हैं उसी भाँति आँख की परीक्षा करके हम शरीर के रोग परखते हैं, इसलिये लड़कों को बालकपन से ही आंखें निश्चल रखने की टेव डालनी चाहिये।

हनुमान की आंखें निश्चल थीं। वे सदा दिखालती थीं की राम का नाम जिस तरह उनके मुँह में था उसी भाँति हृदय में भरा हुआ था, उनके रोम-रोम में व्याप्त था। हम अखाड़ों में जो हनुमान की स्थापना करते हैं वह मुझे रुचती है। मगर इसका अर्थ नहीं है कि हम केवल शरीर से ही बलवान होना चाहते हैं या हनुमान के केवल शरीर बल की आराधना करते हैं। शरीर से जरूर बलवान बनें मगर साथ ही यह भी जान लेवें कि हनुमान का शरीर राक्षसी न था। वे तो वायुपुत्र थे यानी उनका शरीर फूल के समान हलका था, और तो भी कसा हुआ था। किन्तु हनुमान की विशेषता उनके शरीर बल में न थी; उनकी भक्ति में थी। वे राम के अनन्य भक्त थे। उनके गुलाम थे। राम के दासत्व में ही उन्होंने सर्वस्व माना और उन्हें जो कोई काम सौंपा गया, उसे वायु वेग से किया। इसलिए हम व्यायामशाला में हनुमान की जो स्थापना करते हैं, वह इस अर्थ में कि व्यायाम करके हम दास बनने वाले हैं—भारतवर्ष के दास, जगत के दास और उसी से ईश्वर के दास बनने वाले हैं। इस दासत्व में हमें परमेश्वर की झाँकी मिलेगी।

"इसलिए यह भी मत कहो कि हम केवल उनके ब्रह्मचर्य के लिए ही हनुमान की आराधना करते हैं। सेवकमात्र को ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला अवश्य होना होगा। जिसने सेवा का व्रत लिया वह भला इन्द्रिय-विषयों का सेवन कैसे कर

सकेगा। अरे पिता माता की सेवा जैसी संकुचित सेवा के लिए पुत्र संयमी बनने की आवश्यकता है। जैसा विषयी मैं बना था वैसा बनकर वह सेवा नहीं की जा सकती। उसी तरह जिसे आश्रम की सेवा करनी है, स्त्री पुरुषों बालक बालिकाओं को सेवा करनी है उसके लिए विषय का सेवन करने से कैसे काम चल सकेगा और आश्रम की सेवा तो महज एक नन्हीं सी सेवा है, समुद्र में एक बिन्दु मात्र है, इसलिए जिसे जगत की सेवा करनी है, वह तो विषय से भागता ही फिरेगा। किन्तु विषयों के भीतर से मन को उठा लेना हो तो यह काम केवल उपवास से या तपश्चर्या से नहीं होगा किन्तु हनुमान के जैसी भक्ति से हो सकता है। यानी ब्रह्मचर्य और दूसरी सभी वस्तुओं की कुञ्जी भक्ति में है। रोज सन्ध्या में गाते हैं :—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

निराहारी की इन्द्रियाँ भले ही शान्त होवें किन्तु विषयों के लिए रस शान्त नहीं होता। इन्द्रियाँ जब शिथिल होती हैं, तब बहुत करके मन बहुत चंचल हो जाता है, विषयों की ओर अधिक दौड़ता है। यह रस भी रामजी के दर्शन से शांत हो जाता है। यह हनुमानजी का कौल है अथवा हनुमान के जीवन से यह पदार्थ—पाठ सीखना है।

कल मैंने ब्रह्मचर्य के बारे में एक ऐसे विशेषण का प्रयोग किया है, जैसा कभी भी नहीं किया था। वह यह कि मैंने हनुमान के ब्रह्मचर्य को सात्विक ब्रह्मचर्य कहा। यों ब्रह्मचर्य की स्तुति करते हुए उसके तीन भेद सात्विक राजसी और तामसी दिखलाई पड़े। हनुमान का ब्रह्मचर्य सात्विक था। जब की मेघनाद का ब्रह्मचर्य राक्षसी था। राक्षसी ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले में क्रोध होता है, अभिमान होता है। सात्विक में

समर्पण होता है। दोनों ही शरीर बल में एक दूसरे से बढ़े चढ़े थे। किन्तु हनुमान मेघनाद को इसलिए हरा सके कि मेघनाद अभिमानी था, जब कि हनुमान भक्तिभीने थे। और इसलिए उनका बल विशेष था।

इसलिए आँखें बिलकुल सच्ची रखना, हाथपैर ठीक रखने जीभ सच्ची रखनी और यों कर किसी अंश तक हनुमान का अनुकरण भी करने की शक्ति पैदा करनी चाहिये। ब्रह्मचर्य का पालन करके शरीर को सुदृढ़ जरूर करना है किन्तु वह इसीलिए कि हमें शरीर से भी राम की भक्ति करनी है और भक्त बन कर जगत के सेवक बनना है।

केवल बाह्य बातों को ही सँभालने से अन्दर भी नहीं सम्भल जायगा, किन्तु हम जो बाहर को भी सँभालते जायँगे और यह सब केवल बाह्याडंबर न हो तो किसी दिन मन भी स्थिर हो रहेगा, और तभी हम किसी दिन हनुमान की बराबरी कर सकेंगे।

---

१० —गीता

सन् १८८८-८९ में जब गीता का प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, वरन् इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरन्तर होते रहने वाले द्वन्द्वयुद्ध का ही वर्णन है। मानुषी योद्धाओं की रचना हृदय के अन्दर होने वाले युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी हुई कल्पना है। धर्म का और गीता का विशेष विचार करने पर यह प्राथमिक स्फुरणा पक्की हो गयी। महाभारत पढ़ने के बाद यह विचार और भी दृढ़ हो गया।

महाभारत ग्रंथ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदिपर्व में ही हैं। पात्रों की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान ने राजा-प्रजा के इतिहास को मिटा दिया है। उनमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक भले ही हों, परन्तु महाभारत में तो व्यास भगवान ने उनका उपयोग केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता सिद्ध नहीं की, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता से रुदन कराया है, पश्चाताप कराया है और दुःख के सिवा और कुछ बाकी नहीं रखा।

इस महाग्रन्थ में गीता शिरोमणि रूप से विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध व्यवहार सिखाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताता है। स्थितप्रज्ञ का ऐहिक युद्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह बात उसके लक्षणों से ही मुझे प्रतीत हुई है। साधारण पारिवारिक झगड़ों के औचित्य अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता सरीखी पुस्तक की रचना होना सम्भव नहीं है।

गीता के कृष्ण मूर्तिमान शुद्धसम्पूर्ण ज्ञान हैं, परन्तु काल्पनिक हैं। यहाँ कृष्ण नाम के अवतारी पुरुष का निषेध नहीं है। केवल सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, सम्पूर्णावतार का आरोपण पीछे से किया हुआ है।

अवतार से तात्पर्य है शरीरधारी पुरुष विशेष। जीवमात्र ईश्वर का अवतार है, परन्तु लौकिक भाषा में सबको हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान है उसीको भावीप्रजा अवताररूप से पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता। इसमें न तो ईश्वर के बड़प्पन में

ही कमी आती है, न सत्य को ही आघात पहुँचता है। "आदम खुदा नहीं; लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" जिसमें धर्म-जागृति अपने युग में सबसे अधिक है वह विशेषावतार है। इस विचारश्रेणी से कृष्णरूपी सम्पूर्णावतार आज हिन्दू-धर्म में साम्राज्य भोग रहा है।

यह दृश्य मनुष्य की अन्तिम शुभ अभिलाषा का सूचक है। ईश्वररूप हुए बिना मनुष्य का समाधान नहीं होता, उसे शान्ति नहीं मिलती। ईश्वररूप होने का प्रयत्न ही सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्मदर्शन है। यह आत्मदर्शन जैसे सब धर्मग्रन्थों का विषय है वैसे ही गीता का भी है। पर गीताकार ने इस विषय का प्रतिपादन करने के लिये गीता रची। परन्तु आत्मार्थी को आत्मदर्शन का एक अद्वितीय उपाय बतलाना गीता का उद्देश्य है। जो चीज हिन्दूधर्मग्रंथों में छिट-फुट दिखाई देती है उसे गीता ने अनेक रूप से अनेक शब्दों में, पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी, अच्छी तरह स्थापित किया है।

वह अद्वितीय उपाय है कर्मफलत्याग।

इस मध्यबिन्दु के चारों ओर गीता की सारी सजावट की गयी है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आस पास तारामण्डल की भांति सज गये हैं। जहाँ देह है वहाँ कर्म तो है ही। उससे कोई मुक्त नहीं है। तथापि शरीर को प्रभु-मन्दिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मों ने प्रतिपादन किया है। परन्तु कर्ममात्र में कुछ दोष तो है ही। मुक्ति तो निर्दोष की ही होती है। तब कर्मबन्धन से अर्थात् दोषस्पर्श से कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीता ने निश्चयात्मक शब्दों में दिया है—"निष्काम कर्म से, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्मफल का

त्याग करके, सब कर्मों को कृष्णार्पण करके अर्थात् मन, वचन और काया को ईश्वर में होम करके।"

पर निष्कामता, कर्मफलत्याग कहने भर से ही नहीं हो जाता। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। यह हृदयमन्थन से ही उत्पन्न होता है। यह त्यागशक्ति पैदा करने के लिए ज्ञान चाहिये। एक तरह का ज्ञान तो बहुतेरे पण्डित पाते हैं। वेदादि उन्हें कण्ठ होते हैं। परन्तु उनमें से अधिकांश भोगादि में लीन रहते हैं। ज्ञान का अतिरेक शुष्क पांडित्य के रूप में न हो जाय, इसलिये गीताकार ने ज्ञान के साथ भक्ति को मिलाकर उसे प्रथम स्थान दिया है। बिना भक्ति का ज्ञान नुकसान करता है। इसलिए कहा है, "भक्ति करो, तो ज्ञान मिल ही जायगा" पर भक्ति तो 'सिर की बाज़ी' है, इसलिए गीताकार ने भक्त के लक्षण स्थितप्रज्ञ के से बतलाये हैं। तात्पर्य यह कि गीता की भक्ति बाह्याचारिता नहीं है, अन्धश्रद्धा नहीं है। गीता में बताये उपचारों का बाह्यचेष्टा या क्रिया के साथ कम से कम सम्बन्ध है। माला, तिलक और अर्घ्यादि साधनों का भले ही भक्त उपयोग करे, पर वे भक्ति के लक्षण नहीं हैं। जो किसी का द्वेष नहीं करता, करुणा का भण्डार है, ममतारहित है, जो निर-हङ्कार है, जिसे सुखदुःख, शीतउष्ण समान हैं, जो क्षमाशील है, जो सदा सन्तोषी है, जिसके निश्चय कभी बदलते नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दी है, जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों का भय नहीं रखता, जो हर्ष, शोक, भयादि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होने पर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करनेवाला है, जो शत्रु-मित्र पर समभाव रखनेवाला है, जिसे मान अपमान समान है, जिसे स्तुति से खुशी और निन्दा से ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकान्त-प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है, वह भक्त

है। यह भक्ति आसक्त स्त्री पुरुषों के भीतर संभव नहीं है।

इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन उससे भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे एक रुपया देकर जहर भी खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ही यह नहीं हो सकता कि ज्ञान या भक्ति से बन्धन भी प्राप्त किया जा सके और मोक्ष भी। यहाँ तो साधन और साध्य बिलकुल एक नहीं तो लगभग एक ही वस्तु हैं, साधन की पराकाष्ठा ही मोक्ष है और गीता के मोक्ष का अर्थ है परम शान्ति।

किन्तु इस तरह के ज्ञान और भक्ति को कर्मफल-त्याग की कसौटी पर चढ़ना ठहरा। लौकिक कल्पना में शुष्क पण्डित भी ज्ञानी माना जाता है। उसे कोई काम करने को नहीं होता। हाथ से लोटा तक उठाना भी उसके लिए कर्मबन्धन है। यज्ञ-शून्य जहाँ ज्ञानी गिना जाय वहां लोटा उठाने जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया को स्थान ही कैसे मिल सकता है?

लौकिक कल्पना में भक्त से मतलब है वाह्याचारी* माला लेकर जप करनेवाला। सेवा कर्म करते भी उसकी माला में विक्षेप पड़ता है। इसलिये वह खाने पीने आदि भोग भोगने के समय ही माला को हाथ से छोड़ता है। चर्खा चलाने या रोगी की सेवाशुश्रूषा करने के लिये कभी नहीं छोड़ता।

इन दोनों वर्गों को गीता ने साफ कह दिया है "कर्म बिना किसी ने सिद्धि नहीं पायी। जनकादि भी कर्म द्वारा ही ज्ञानी हुए थे। यदि मैं भी आलस्यरहित होकर कर्म न करता रहूँ तो इन लोकों का नाश हो जाय।" तो फिर लोगों के लिये तो पूछना ही क्या?

---

*जो वाह्याचार में लीन रहता है और शुद्ध भाव से मानता है कि यही भक्ति है।

परन्तु एक ओर से कर्ममात्र बंधनरूप हैं, यह निर्विवाद है। दूसरी ओर से देही इच्छा अनिच्छा से भी कर्म करता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएँ कर्म हैं। तब कर्म करते हुये भी मनुष्य बन्धनमुक्त कैसे रहे। जहाँ तक मुझे मालूम है, इस पहेली को जिस तरह गीता ने हल किया है उस तरह दूसरे किसी भी धर्मग्रन्थ ने नहीं किया है। गीता का कहना है कि "फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो", "आशारहित होकर कर्म करो", "निष्काम होकर कर्म करो।" यह गीता की वह ध्वनि है जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता से वह चढ़ता है।

यहाँ फलत्याग का कोई यह अर्थ न करे कि त्यागी को फल मिलता नहीं। गीता में ऐसे अर्थ को कहीं स्थान नहीं है। फलत्याग से मतलब है फल के सम्बन्ध में असक्ति का अभाव। वास्तव में फलत्यागी को हजारगुना फल मिलता है। गीता के फलत्याग में तो अपरमित श्रद्धा की परीक्षा है। जो मनुष्य परिणाम की बात सोचता रहता है वह बहुत बार कर्म कर्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है, वह अधीर होता है, इससे वह क्रोध के वश हो जाता है और फिर वह न करने योग्य करने लग जाता है, एक कर्म से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में प्रवृत्त होता जाता है। परिणाम की चिन्ता करनेवाले की स्थिति विषयान्ध की सी हो जाती है और अन्त में वह विषयी की भांति सा । - सार का, नीति-अनीति का विवेक छोड़ देता है और फल प्राप्त करने के लिए मनमाने साधनों से काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

फलशक्ति के ऐसे कटु परिणाम में से गीताकार ने अनासक्ति अर्थात् कर्मफलत्याग का सिद्धान्त निकाला और उसे

संसार के सामने अत्यन्त आकर्षक भाषा में रक्खा है। साधारणतः तो यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु हैं, "व्यापार आदि लौकिक व्यवहार में धर्म का पालन नहीं हो सकता, धर्म की जगह नहीं हो सकती, धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए किया जा सकता है। धर्म की जगह धर्म शोभा देता है और अर्थ की जगह अर्थ।" मेरी समझ में गीताकार ने इस भ्रम को दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहार के बीच में ऐसा भेद नहीं रक्खा। बल्कि धर्म को व्यवहार में परिणत किया है। जो व्यवहार में न लाया जा सके वह धर्म धर्म नहीं है, यह सूचना मेरी समझ से गीता में विद्यमान है। अर्थात् गीता के मतानुसार जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्ति के बिना हो ही न सकें वे सभी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण नियम मनुष्य को अनेक धर्मसंकटों से बचाता है। इस मत के अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार आदि कर्म अपने आप त्याज्य हो जाते हैं। मानवजीवन सरल बन जाता है और सरलता में से शान्ति उत्पन्न होती है। फलत्याग का अर्थ भी नहीं है कि परिणाम के सम्बन्ध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किए बिना साधन में तन्मय रहता है, वह फलत्यागी है।

इस विचार श्रेणी का अनुसरण करते हुये मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीता की शिक्षा को कार्य में परिणत करने वाले को अपने आप सत्य और अहिंसा का पालन करना पड़ता है। फलासक्ति बिना न तो मनुष्य को असत्य बोलने का लालच होता है, न हिंसा करने का। चाहे जिस हिंसा या असत्य के कार्य को लिया जाय, यह मालूम होगा कि उसके पीछे परिणाम की इच्छा रहती ही है। परन्तु अहिंसा का प्रतिपादन गीता

का विषय नहीं है। गीताकाल के पहले भी अहिंसा परम धर्म-रूप मानी जाती थी। गीता को तो अनासक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना था। दूसरे अध्याय में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परन्तु यदि गीता को अहिंसा मान्य थी अथवा अनासक्ति में अहिंसा अपने आप आ ही जाती है तो गीताकार ने भौतिक युद्ध को उदाहरण के रूप में भी क्यों लिया। गीतायुग में अहिंसा धर्म मानी जाने पर भी भौतिक युद्ध एक बहुत साधारण वस्तु होने के कारण गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण लेते हुए संकोच नहीं हुआ और न हो सकता था।

परन्तु फलत्याग के महत्व का अन्दाजा करते हुए गीताकार के मन में क्या विचार थे, उसने अहिंसा की मर्यादा कहाँ निश्चित की थी, इस पर हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती। कवि महत्व सिद्धान्त संसार के सम्मुख उपस्थित करता है, इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि वह सदा अपने उपस्थित किये हुये सिद्धान्तों का महत्व पूर्णरूप से जानता है या जानकर सबका सब भाषा में उपस्थित कर सकता है। इसमें काव्य और कवि की महिमा है। कवि के अर्थ का अन्त ही नहीं है। जैसे मनुष्य का वैसे ही महावाक्यों के अर्थ का भी विकास होता ही रहता है। भाषाओं के इतिहास की जाँच कीजिए तो मालूम होगा कि अनेक महान् शब्दों के अर्थ नित्य नए होते रहे हैं। यही बात गीता के अर्थ के सम्बन्ध में भी है। गीताकार ने स्वयं महान् रूढ़ शब्दों के अर्थ का विस्तार किया है। यह बात गीता को ऊपर ही ऊपर देखने से भी मालूम हो जाती है। गीता युग के पहले कदाचित् यज्ञ में पशु-हिंसा मान्य रही हो, पर गीता के यज्ञ में उसकी कहीं गन्ध तक नहीं है। उसमें तो जपयज्ञ यज्ञों का राजा है। तीसरा अध्याय

बतलाता है कि यज्ञ का अर्थ है मुख्यतः परोपकारार्थ शरीर का उपयोग। तीसरे और चौथे अध्याय को मिलाकर और भी व्याख्याएँ निकाली जा सकती हैं, पर पशुहिंसा नहीं निकाली जा सकती। यही बात गीता के संन्यास के अर्थ के सम्बन्ध में भी है। कर्ममात्र का त्याग गीता के संन्यास को भाता ही नहीं। गीता का संन्यासी अतिकर्मी होने पर भी अति अ-कर्मी है। इस तरह गीताकार ने महान् शब्दों का व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है। गीताकार को भाषा के अक्षरों से यह बात भले ही निकलती हो कि सम्पूर्ण कर्मफलत्यागी द्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है, परन्तु गीता की शिक्षा को पूर्णरूप से अमल में लाने का ४० वर्ष तक सतत प्रयत्न करने पर, मुझे तो नम्रतापूर्वक ऐसा जान पड़ा है कि सत्य और अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन किये बिना सम्पूर्ण कर्मफलत्याग मनुष्य के लिए असम्भव है।

गीता सूत्रग्रन्थ नहीं है। गीता एक महान धर्मकाव्य है। उसमें जितना गहरे उतरिये उतना ही उसमें से नये और सुन्दर अर्थ लीजिए। गीता जनसमाज के लिए है, उसमें एक ही बात अनेक प्रकार से कह दी गयी है। इसलिये गीता के महाशब्दों का अर्थ युगयुग में बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीता का मूल मन्त्र कभी नहीं बदल सकता। वह मंत्र जिस रीति से सिद्ध किया जा सके उस रीति से जिज्ञासु चाहे अर्थ कर सकता है।

गीता विधिनिषेध बतलाने वाली भी नहीं है। एक के लिए जो विहित होता है वही दूसरे के लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देश में जो विहित होता है वह दूसरे काल में दूसरे देश में निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।

गीता में ज्ञान की महिमा सुरचित है। तथापि गीता बुद्धि-गम्य नहीं है। वह हृदयगम्य है इसलिए वह अश्रद्धालु के लिये नहीं है। गीताकार ने ही कहा है—

"जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना।" १८-६७

"परन्तु यह परम गुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा वह मेरी परम भक्ति करने कारण निःसन्देह मुझे ही पावेगा।" १८-६८

"और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहाँ बसते हैं, उस शुभ-लोक को पावेगा।" १८-७१

११—गीता और रामायण

बहुतेरे नौजवान कोशिश करते हुये भी पाप से बच नहीं पाते। वे हिम्मत खो बैठते हैं और फिर दिन-ब-दिन पाप की गहराई में कदम बढ़ाते जाते हैं। बहुतेरे तो बाद में पाप ही को पुण्य भी मानने लगते हैं। ऐसों को मैं कई बार गीता और रामायण पढ़ने और उन पर विचार करने की सलाह देता हूँ। लेकिन वे इस बात में दिलचस्पी नहीं ले सकते। इसी तरह के नौजवानों की दिलजमई के लिये, उन्हें धीरज बँधाने की गरज से, एक नौजवान के पत्र का कुछ हिस्सा, जो इस विषय से सम्बन्ध रखता है। नीचे देता हूँ—

"मन साधारणतः स्वस्थ है। लेकिन जब कुछ दिनों तक मन बिल्कुल स्वस्थ रह चुकता है, और खुद इस बात का

खयाल हो आता है तो फिर से पछाड़ खानी ही पड़ती है। विकार इतने जबर्दस्त बन जाते हैं कि उनका विरोध करने में बुद्धिमानी नहीं मालूम पड़ती, लेकिन ऐसे समय प्रार्थना, गीता-पाठ और तुलसीकृत रामायण से बड़ी मदद मिलती है। रामायण को एक बार पढ़ चुका हूँ, दुबारा सती की कथा तक आ पहुँचा हूँ। एक समय था, जब रामायण का नाम सुनते ही जी घबड़ाता था, लेकिन आज तो उसके पन्ने पन्ने में रस पा रहा हूँ। एक पृष्ठ को पाँच-पाँच बार पढ़ता हूँ; फिर भी दिल ऊबता नहीं। कागभुशुण्ड जी की जिस कथा के कारण मेरे दिल में तुलसीकृत-रामायण के प्रति घृणा पैदा हो गई थी, वह बुरी लगती थी, वही आज सबसे अच्छी मालूम होती है। उसमें मैं, गीता के ११ वें अध्याय से भी ज्यादा काव्य देख रहा हूँ। दो चार साल पहले आधे दिल से स्वच्छता पाने की कोशिश पर भी उसे न पाकर जो निराशा पैदा होती थी, आज उस निराशा का पता भी नहीं है, उलटे मन में विचार आता है कि जो विकास अनन्त काल बाद होने वाला है उसे आज ही पा लेने का हठ करना कितनी मूर्खता है। सारे दिन में कातते समय और रामायण का अभ्यास करते समय आराम मिलता है।"

इस पत्र के लेखक में जितनी निराशा और जितना अविश्वास था, शायद ही किसी दूसरे नौजवान में उतनी निराशा और उतना अविश्वास हो। दोषों ने उसके शरीर में घर कर लिया था। लेकिन आज उसमें जिस श्रद्धा का उदय हुआ है उससे नवयुवक-जगत् में आशा का संचार होना चाहिये। जो लोग अपनी इन्द्रियों को जीत सके हैं, उनके अनुभव का भरोसा करके लगन के साथ रामायण वगैरह का अभ्यास करनेवाले का दिल पिघले बिना नहीं रह सकता। मामूली विषयों के

अभ्यास के लिए भी जब हमें अक्सर बरसों तक मेहनत करनी पड़ती है। कई तरकीबों से काम लेना पड़ता है तो जिसमें सारी ज़िंदगी की और उसके बाद की शान्ति का भी सवाल छिपा हुआ है। उस विषय के अभ्यास के लिए हमने कितनी लगन होनी चाहिये ? तिस पर भी जो लोग थोड़े में थोड़ा समय और ध्यान देकर रामायण तथा गीता में रस पान करने की आशा रखते हैं, उनके लिए क्या कहा जाय ?

ऊपर के पत्र में लिखा है कि पत्र-लेखक को अपने स्वस्थ–तन्दुरुस्त होने का ख्याल आते ही विकार फिर के चढ़ दौड़ते हैं। जो बात शरीर के लिये ठीक है, वही मन के लिए भी ठीक है। जिसका शरीर बिलकुल चंगा है, उसे अपने अच्छेपन का ख्याल कभी आता ही नहीं; न उसकी कोई जरूरत ही है। क्योंकि तन्दुरुस्ती तो शरीर का स्वभाव है। यही बात मन को लागू होती है। जिस दिन मन की तन्दुरुस्ती का ख्याल आवे, समझ लो कि विकार पास आकर झाक रहे हैं। अतः मन को हमेशा स्वस्थ बनाये रखने का एक-मात्र उपाय उसे हमेशा अच्छे विचारों में लगाये रखना है। इसी कारण राम नाम वगैरह के जप की बात की शोध हुई, वे गेय माने गये और जिसका हृदय में हर घड़ी राम का निवास हो उस पर विकार चढ़ाई कर ही नहीं सकते। सच तो यह है कि जो शुद्ध बुद्धि से राम नाम का जाप करता है समय पाकर, राम नाम उसके हृदय में घर कर लेता है। इस तरह हृदय प्रवेश होने के बाद राम नाम उस मनुष्य के लिए अभेद्य क़िला बन जाता है। बुराई, बुराई का ख़याल करते रहने से नहीं मिलती, हाँ अच्छाई का विचार करने से बुराई जरूर मिट जाती है। लेकिन बहुत बार देखा गया है कि लोग सच्ची नियत से उलटी तरक़ीबें काम में लाते हैं। 'यह कैसे आई, कहां से आई ?'

वगैरः विचार करने से बुराई का ध्यान बढ़ता जाता है। बुराई को मेटने का यह उपाय हिंसक कहा जा सकता है। इसका सच्चा उपाय तो बुराई से असहयोग करना है। जब बुराई हम पर आक्रमण करे तो उससे 'भाग जा' कहने की कोई जरूरत नहीं। हमें तो यह समझ लेना चाहिये कि बुराई नाम की कोई चीज ही नहीं और हमेशा स्वच्छता का, अच्छाई का विचार करते रहना चाहिये। 'भाग जा' कहने में डर का भाव है। उसका विचार तक न करने में निडरता है। हमें सदा विश्वास बढ़ाते रहना चाहिये कि बुराई हमें छू तक नहीं सकती। अनुभव द्वारा यह सब सिद्ध किया जा सकता है।

१२—तुलसीदास जी

भिन्न भिन्न मित्र पूछते हैं:—

"रामायण को आप सर्वोत्तम ग्रन्थ मानते हैं परन्तु समझ में नहीं आता क्यों? देखिये, तुलसीदास जी ने स्त्री-जाति की कितनी निन्दा की है। बालि-वध का कैसा समर्थन किया है। विभीषण के देश-द्रोह की किस क़दर प्रशंसा की है। सीता जी पर घोर अन्याय करनेवाले राम को अवतार बताया है। ऐसे ग्रन्थ में आप कौन सौन्दर्य देख पाते हैं? तुलसीदास जी के काव्य-चातुर्य के लिये तो, शायद, आप रामायण को सर्वोत्तम ग्रन्थ नहीं समझते होंगे? यदि ऐसा ही है तो, कहना पड़ेगा कि आपको काव्य परीक्षा का कोई अधिकार ही नहीं।"

उपरोक्त सब सवाल एक ही मित्र के नहीं, परन्तु भिन्न भिन्न मित्रों ने भिन्न समय पर जो कुछ कहा है और लिखा है, उसका यह सार है। यदि ऐसी एक-टीका को लेकर देखें तो

सारी की सारी रामायण दोषमय सिद्ध की जा सकती है। सन्तोष यही है कि इस तरह प्रत्येक ग्रन्थ और प्रत्येक मनुष्य दोषमय सिद्ध किया जा सकता है। एक चित्रकार ने अपने टीकाकारों का उत्तर देने के लिये अपने चित्र को प्रदर्शिनी में रखा और नीचे इस तरह लिखा 'इस चित्र में जिसको जिस जगह दोष प्रतीत हों वह उस जगह अपनी क़लम से चिन्ह कर दे। परिणाम यह हुआ कि चित्र के अंग-प्रत्यङ्ग दोषपूर्ण बताये गये। मगर वस्तुस्थिति यह थी कि वह चित्र अत्यन्त कला युक्त था। टीकाकारों ने तो वेद, बाइबल और कुरान में भी बहुतेरे दोष बताये हैं परन्तु उन ग्रन्थों के भक्त उनमें दोषों का अनुभव नहीं करते। प्रत्येक ग्रन्थ की परीक्षा पूरे ग्रन्थ के रहस्य को देखकर ही की जानी चाहिये। यह वाह्य परीक्षा है। अधिकांश पाठकों पर ग्रन्थ विशेष का क्या असर हुआ है यह देखकर ही ग्रन्थ की आन्तरिक परीक्षा की जाती है। और किसी भी साधन से क्यों न देखा जाय रामायण की श्रेष्टता ही सिद्ध होती है। ग्रन्थ को सर्वोत्तम कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि उसमें एक भी दोष नहीं है। परन्तु रामचरित्रमानस के लिये यह दावा अवश्य है कि उसमें लाखों मनुष्यों को शान्ति मिली है। जो लोग ईश्वर विमुख थे वे ईश्वर के सम्मुख गये हैं और आज भी जा रहे हैं। मानस का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भरपूर है। मानस अनुभव-जन्य ज्ञान का भण्डार है।

यह बात ठीक है कि पापी अपने पाप का समर्थन करने के लिये रामचरितमानस का सहारा लेते हैं, इसमें यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे लोग रामचरितमानस में से अकेले पाप का ही पाठ सीखते हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि तुलसीदासजी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया है। इसमें और ऐसी ही अन्य बातों में तुलसीदासजी अपने युग की प्रचलित मान्य-

ताओं से परे नहीं जा सकते थे। अर्थात तुलसीदासजी सुधा-
रक नहीं, बल्कि भक्तशिरोमणि थे। इसमें हम तुलसीदासजी
के दोषों का नहीं परन्तु उनके युग के दोषों का दर्शन अवश्य
करते हैं।

ऐसी दशा में सुधारक क्या करें? क्या उनको तुलसीदास-
जी से कुछ सहायता नहीं मिल सकती? अवश्य मिल सकती
है। रामचरित्रमानस में स्त्री-जाति की काफी निन्दा मिलती है।
परन्तु उसी ग्रन्थ द्वारा सीता जी के पुनीत चरित्र का भी हमें
परिचय मिलता है। बिना सीता के राम कैसे? राम का यश
सीता जी पर निर्भर है। सीताजी का रामजी पर नहीं।
कौशल्या, सुमित्रा आदि भी मानस के पूजनीय पात्र हैं। शबरी
और अहिल्या की भक्ति आज भी सराहनीय है। रावण राक्षस
था, मगर मन्दोदरी सती थी। ऐसे अनेक दृष्टान्त इस पवित्र
भण्डार में से मिल सकते हैं। मेरे विचार में इन सब दृष्टांतों
से यही सिद्ध होता है कि तुलसीदासजी ज्ञान-पूर्वक स्त्री-जाति
के निन्दक नहीं थे, ज्ञानपूर्वक तो स्त्री-जाति के पुजारी ही थे। यह
तो स्त्रियों की बात हुई। परन्तु बालिवधादि के बारे में भी दो
मतों की गुञ्जाइश है। विभीषण में तो मैं कोई दोष नहीं पाता
हूँ। विभीषण ने अपने भाई के साथ सत्याग्रह किया था।
विभीषण का दृष्टान्त हमें यह सिखाता है कि अपने देश या
अपने शासक के दोषों के प्रति सहानुभूति रखना या उन्हें
छिपाना देशभक्ति के नाम को लजाना है। इसके विपरीत
देश के दोषों का विरोध करना सच्ची देशभक्ति है। विभीषण
ने रामजी की सहायता करके देश का भला ही किया था।
सीताजी के प्रति रामचन्द्रजी के बर्ताव में निर्दयता नहीं थी,
उसमें राजधर्म या पतिप्रेम का द्वन्द्वयुद्ध था।

जिसके दिल में इस सम्बन्ध में शङ्कायें शुद्ध भाव से उठें,

उन्हें मेरी सलाह है कि . रे तथा किसी और के अर्थ को यन्त्रवत् स्वीकार न करें। जिस विषय में हृदय शंकित है उसे छोड़ दें। सत्य, अहिंसादि की विरोधिनी किसी वस्तु को स्वीकार न करें। रामचन्द्र ने छल किया था। इसलिये हम भी छल करें, यह सोचना औंधा पाठ पढ़ना है। यह विश्वास रखकर कि रामादि कभी छल नहीं कर सकते। हम पूर्णपुरुष का ही ध्यान करें और पूर्णग्रन्थ का ही पठन-पाठन करें। परन्तु 'सर्वारंभाहि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता' न्यायानुसार सब ग्रन्थ दोषपूर्ण हैं। यह समझकर हंसवत् दोषरूपी नीर को निकाल फेंकें और गुण-रूपी क्षीर ही ग्रहण करें। इस तरह अपूर्ण में सम्पूर्ण की प्रतिष्ठा करना गुण-दोष का पृथकरण करना, हमेशा व्यक्तियों और युगों की परिस्थिति पर निर्भर रहेगा। स्वतन्त्र संपूर्णता केवल ईश्वर में ही है और वह अकथनीय है।

———

१३—ज्ञान की शोध में

एक फ्रेंच लेखक ने एक कहानी लिखी है। उसका नाम 'ज्ञान की शोध में' रख सकते हैं! लेखक कितने ही विद्वानों के जुदे-जुदे भू-भाग में ज्ञान की शोध में भेजते हैं। उनका एक दल हिन्दोस्तान में आता है। ये शोधक ब्रह्मज्ञानियों, शास्त्रियों, दरबारियों इत्यादि के यहाँ जाते हैं परन्तु ज्ञान उन्हें कहीं नहीं मिलता। ज्ञान का अर्थ ये शोधक निश्चित करते हैं—ईश्वर की शोध। अन्त को एक अन्त्यज का घर हाथ आता है। वहाँ वे शक्ति की पराकाष्ठा देखते हैं। सरलता, निर्दोषता, अकृत्रिमता का प्रथम अनुभव उन्हें वहाँ होता है। वहाँ उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार होता है, और वे इस निश्चय पर पहुँचते

हैं कि जो सख्स अनायास ईश्वर की भेंट करना चाहता हो, उसे गरीब और तिरस्कृत लोगों में उसकी शोध करनी चाहिये।

यह वार्ता तो कल्पित है। परन्तु हमारे शास्त्र इस बात का साक्ष्य देते हैं। सुदामा को भगवान् सहज में मिल गये। मीरा-बाई जब राणी न रह गई तब भगवान से मिल पाई। दुर्योधन कृष्ण के मस्तक की ओर जाकर बैठा तो अकेली सेना उसे मिली। भगवान् सारथी तो हुये पैर के पास बैठनेवाले अर्जुन के।

ये विचार नीचे लिखे पत्र को पढ़ कर मन में उत्पन्न हो रहे हैं। "मेरी उम्र २५ साल की है। माँ-बाप नहीं हैं। सगे-सम्बन्धी बहुत थोड़े हैं। इस समय तो एक यही तीव्र इच्छा है और वह बढ़ती जा रही है। मैं कौन हूँ ? सृष्टि के साथ मेरा सम्बन्ध क्यों हुआ ? ईश्वर नामक कोई वस्तु है या नहीं ?'

"समुद्र में बड़ी बड़ी हिलोरें आती हैं, परन्तु आगे पीछे छोटी छोटी तरंगें रहती हैं। मेरे दोष छोटी छोटी तरंगे हैं—बड़ी हिलोरें हैं ईश्वर-सम्बन्धी समस्या।"

'मेरे जीवन-पथ का कोई योग्य मार्गदर्शक मिले तो ठीक है। जीवन के बहुतेरे वर्ष फजूल चले गये। यह चिन्ता करते अब जो जा रहे हैं वे अधिक असह्य हैं। महाशक्ति या ईश्वर जो कोई हो, उसके प्रति मेरी दुःखित हृदय से प्रार्थना है कि 'तुझे जिसने पहचाना हो उनकी भेंट करादे कि जिसके द्वारा मैं तुझे जान सकूँ।"

"कितनी ही शंकाओं से मन विह्वल बना रहता है। मन होता है कि आपके पास रहूँ और सब कुछ पूछा करूँ। पर आप मुझे अकेले के लिये थोड़े ही हैं।"

"राम और रावण के दृष्टान्त से कुछ सन्तोष नहीं होता। राम भी गये, रावण भी चला गया। किसे पता कहां गये और क्या हुआ ? नीति से हो तो क्या और अनीति से हो तो क्या ?

दोनों का आचरण करने वाले के लिए मृत्यु निश्चित है। मृत्यु के बाद मोक्ष है, सद्गति है, इस बात पर श्रद्धा नहीं बैठती। जो कुछ है उसे मैं मृत्यु के पहले जान लेना, अनुभव करना चाहता हूँ।

"कर्म कर, फल की आशा न रख, इस आश्वासन से मेरा काम नहीं चलता। इसका अर्थ तो यह हुआ कि मजदूरी कर पैसा मिलने की आशा न रख। मुझे तो फल दरकार है और उसी के लिए कर्म करना है। फल यदि ईश्वर प्राप्ति हो, साक्षात्कार जो होता आया हो, तो कर्म वही है जो उसका साधन है, जिसके जरिये वह पहचान गया हो और जिससे वह मार्ग दिखावें।"

"मूर्त्ति को देखकर हमारा काम नहीं चलता। लोग लकड़ी की स्त्री और बाल-बच्चे बनाकर दुनिया नहीं चलाते। नाम स्मरण में भी इतनी ही अश्रद्धा है। लकड़पन में संग-दोष के कारण मेरे अन्दर छोटे-बड़े कितने ही दुर्गुणों ने घर कर लिया है। परन्तु इन सब का मुकाबला मुझे पूरे बल के साथ करना पड़ता है कुछ चले गये हैं, शेष मृतप्राय हो गये हैं। कभी कभी दर्शन दे देते हैं। मुझे उनके साथ घोर युद्ध करना पड़ता है। राम-नाम जपा करता तो मेरा पता न लगता। अजामिल नारायण नाम से पार हो गया, यह गप मालूम होती है। सत्संग और सतत प्रयत्न-पूर्वक रात-दिन माया के साथ युद्ध करते करते ऊँचा चरित्र निर्माण हो सकता है।"

"मैं जन्मतः ब्राह्मण हूँ। छुआछूत में विश्वास नहीं बैठता। सन्ध्या, पूजा, पाठ एक कवायद है। बीमार की सेवा में जो आनन्द मिलता है वह उसमें नहीं। योगाभ्यास में बहुत श्रद्धा है। ध्येयसिद्धि के लिये पाखाना भी साफ करने में न संकुचाऊँगा। कातना, धुनकना, बुनना नहीं जानता। खादी पहनता हूँ।

"तीन महीने छुट्टी पड़ती है, तब आश्रम में आकर रहना चाहता हूँ। अपने जीवन का कोई मार्ग नहीं निश्चित कर पाता। कोई ऐसा मार्गदर्शक मिले तो अच्छा हो, मेरी श्रद्धा बैठा दें। साधुसंतों पर एकदम श्रद्धा नहीं बैठती। जिसका जीवन ऐसे गोरखधन्धे से निकल नहीं पाता है वह भला देहात में समाज की क्या सेवा करके सन्तोष पहुँचा सकता है ?"

इस पत्र के लेखक निर्मल-हृदय के हैं। वे ज्ञान की शोध में हैं। पर ज्यों ज्यों वे ज्ञान को खोजते हैं, त्यों त्यों वह उनसे दूर भागता दिखाई देता है। जो चीज बुद्धि के द्वारा नहीं प्राप्त हो सकती, उनके लिये वे बुद्धि का प्रयोग कर रहे हैं। जिस चीज के लिये वे अकल लड़ा रहे हैं उनके फल लिये व्यर्थ ही प्रयत्न कर रहे हैं। कर्म के फल की आशा न रखने का अर्थ यह नहीं कि फल मिलेगा ही नहीं। आशा न रखने का अर्थ यही है कि कोई कर्म निष्फल नहीं जाता, और संसार की विचित्र रचना में ऐसी गूथन है कि यही पहचान नहीं पड़ती कितना कौन सा है और शाखा कौनसी है। तो फिर अनेक मनुष्यों के अनेक कर्म के समुदाय का फल है, उसमें यह कौन जान सकता है कि एक व्यक्ति के कर्म का फल कौनसा है ? यह जानने का हमें अधिकार क्या है ! एक राजा के सिपाही को भी अपने किये कर्म का फल जानने का अधिकार है यह भी अपने किये कर्म का फल जानने का अधिकार नहीं होता, तो फिर हमें जो कि इस संसार के सिपाही हैं अपने कर्म के फल को जान कर क्या करना है ? क्या यही ज्ञान काफी नहीं कि कर्म का फल अवश्य मिलता है ?

पर इन लेखक को न तो राम-नाम में श्रद्धा है, न ईश्वर में श्रद्धा है। मैं उनसे सिफारिश करता हूँ कि वे करोड़ों के अनुभव पर श्रद्धा रक्खें। संसार ईश्वर की हस्ती पर कायम है। राम-नाम ईश्वर का एक नाम है। रामनाम से घृणा हो तो वे शौक

से ईश्वर के नाम से या अपने रचे किसी नाम से पूजे। अजामिल के उदाहरण को गप मानने का कोई कारण नहीं। सवाल यह नहीं है कि अजामिल हुआ था या नहीं, पर यह है कि ईश्वर का नाम लेता हुआ वह पार हो गया या नहीं। पौराणिकों ने मनुष्य जाति के अनुभवों का वर्णन किया है। उनकी अवहेलना करना इतिहास की अवहेलना करना है। माया के साथ तो युद्ध बना ही हुआ। अजामिल जैसों ने युद्ध करते नारायण-नाम का जप किया है। मीराबाई सोते-बैठते, खाते-पीते गिरिधर का नाम जपती थीं। युद्ध बएवज यह नाम नहीं हैं, बल्कि युद्ध करते हुये उस नाम को लेकर युद्ध को पवित्र बनाने की विधि है। राम नाम, द्वादश मंत्र जपनेवाले माया के साथ युद्ध करते हुए थकते नहीं बल्कि माया को थका देते हैं। इसी से कवि ने गाया है—

'माया सब को मोहित करती, हरिजन से वह हारी रे।'

राम-रावण का दृष्टान्त तो शाश्वत है। इससे सन्तोष न होने का अर्थ इतना ही है कि असन्तुष्ट होनेवाले ने राम-रावण को ऐतिहासिक पात्र मान लिये हैं। ऐतिहासिक राम-रावण तो चले गये। परन्तु मायावी रावण आज भी मौजूद है और जिनके हृदय में राम का निवास है वे रामभक्त आज भी संहार कर रहे हैं।

जो बात मृत्यु के बाद ही जानी जाती है, उसको आज जान लेने का लोभ कितना जबरदस्त मोह है? पाँच साल का बच्चा पांचवें साल में क्या हो जायगा? यह जानने का लोभ रक्खे तो क्या हालत होगी? परन्तु जिस तरह ज्ञानी बालक औरों के अनुभव से अपने सम्बन्ध में कुछ अनुमान कर सकता है, उसी तरह हम भी औरों के अनुभव से मृत्यु के बाद की स्थिति का कुछ अनुमान करके सन्तुष्ट रह सकते हैं।

अथवा मृत्यु के बाद क्या होगा, यह जानने से क्या लाभ ? सुकृत का फल मीठा और दुष्कृत का कड़वा होता है, यही विश्वास क्या बस नहीं ? अच्छे से अच्छे कृत्य का फल मोक्ष है। यह व्याख्या मोक्ष की मैं पूर्वोक्त लेखक को सूचित करता हूँ।

लेखक मूर्त्ति का स्थूल अर्थ करके भुलावे में डालनेवाली उपमा लेकर खुद ही भुलावे में पड़ गये हैं। मूर्त्ति परमेश्वर नहीं है। बल्कि मूर्त्ति में परमेश्वर का आरोपण करके लोग उसमें तल्लीन होते हैं। लकड़ी का मनुष्य बनाकर मनुष्य का काम लकड़ी के पुतली से हम नहीं ले सकते। परन्तु चित्र के द्वारा अपने माँ बाप की स्मृति ताजा रखने के लिये चित्रों का प्रयोग करके लाखों सुपुत्र और पुत्री क्या बुरा करते हैं ? परमेश्वर सर्वव्यापक है। नर्वदा के एक पत्थर में भी उसका आरोपण करके परमेश्वर की भक्ति हो सकती है।

१४—भारत की सभ्यता

सन् १९२४ में जब मैं संयुक्त प्रान्त में भ्रमण कर रहा था, अयोध्याजी के नजदीक एक किसान ने पुकार कर मेरी गाड़ी में एक पर्चा फेंका था। मैंने उस पर्चे को उठाया और देखा उसमें उसने तुलसीदासजी के रामचरितमानस में से कई उपयोगी चौपाइयाँ और दोहे उद्धृत किये हैं। यह देख कर मुझे हर्ष हुआ और भारतवर्ष की सभ्यता के प्रति मेरे मन में आदर बढ़ा। उस पर्चे को मैंने अपने दफ्तर में इस इच्छा से रख छोड़ा था कि किसी न किसी रोज उसे (नवजीवन) में दे दूँगा।

वैसे, प्रति सप्ताह मैं उसे देख कर छोड़ देता था क्योंकि जब वह पर्चा मुझे मिला था मैं 'हिन्दी-नवजीवन' के लिये कुछ नहीं लिखता था। गुजराती नव-जीवन के लिये मैंने उसे इतना उपयोगी नहीं समझा था जितना 'हिन्दी नवजीवन' के लिये। पर्चे का एक हिस्सा गुजराती और हिन्दी में सन् १६२७ में दिया गया था।

अब चूँकि प्रति सप्ताह कुछ न कुछ 'हिन्दी-नव जीवन' के लिये खसूसन लिखता हूँ, और चूँकि अनक़रीब ही फिर से मेरा यू० पी० का दौरा आरम्भ होता है उस परचे का दूसरा हिस्सा यहाँ देता हूँ:—

(वर्तमान् स्थिति के सुधारों में बाधा डालनेवालों के लक्षण)

काहुहि सुमति कि खल संग जामी,
शुभगति पाव कि परतियगामी।
राज्ञ कि रहे नीति विन जाने,
अघ कि रहे हरिचरित बखाने।
अघ कि बिना तामस कछु आना,
धर्म कि दया सरिस हरियाना।
यहाँ न पक्षपात कछु राखौं,
वेद पुराण सन्त मत भाखौं।
अरिवश दैव जियावै जाही,
मरण नीक तेहि जियब न चाही।
सत्य बचन विश्वास न करहीं,
वायस इव सब ही सन डरहीं।
आरत काह न करै कुकर्मू।
क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
मायावश परछिन्न जड़, जीव कि ईश समान।

और करै अपराध कोई, और पाव फल भोग।
अति विचित्र भगवत गति, को जग जानै योग॥
सचिव, वैद्य, गुरु, स्वामि जो, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज, धर्म तन, तीन कर, बेगहिं होय विनास (१)।
परद्रोही परदार रत, पर धन पर अपवाद।
ते नर -पामर पापमय, देह धरै मनुजाद॥
भाग छोट अभिलाख बड़, करउँ एक विश्वास।
उदासीन अरि मीत हित, सुनत जरहिं खल रीति।
भले भलाई पै लहहिं, लहहि निचाई नीच।
संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाव सनेह॥

मैंने इसमें से स्तुति के वचन निकाल डाले हैं। इन किसान भाई के अक्षर स्पष्ट हैं और जो लिखा है, मजा कर लिखा है।

सब इतिहासकारों ने गवाही दी है कि जो सभ्यता भारत के किसानों में पाई जाती है दुनिया के और किन्हीं किसानों में नहीं पाई जाती। यह पर्चा इस बात का एक उदाहरण है। भारत की सभ्यता की रक्षा करने में तुलसी दास जी ने बहुत अधिक भाग लिया है। तुलसीदास के चेतनमय रामचरित मानस के अभाव में किसानों का जीवन जड़वत् और शुष्क बन जाता। पता नहीं कैसे क्या हुआ, परन्तु यह तो निर्विवाद है कि तुलसीदास जी की भाषा में जो प्राणपद शक्ति है वह दूसरों की भाषा में नहीं पाई जाती। रामचरितमानस विचार-रत्नों का भण्डार है। उनकी कीमत का कुछ अन्दाजा हम उपर्युक्त दोहों और चौपाइयों से लगा सकते हैं। मुझे दृढ़ विश्वास है कि किसान लेखक ने इन चौपाइयों और दोहों को ढूँढ़ने में कोई खास परिश्रम नहीं किया है, हाँ अपने कण्ठस्थ भण्डार में से जो याद हो आये वहीं दे दिये हैं।

जब हम एक किसान के मुख से—

शुभ गति पाव कि परतियगामी।
राज कि करै नीति बिनु जाने।
अघ की रहे हरि चरित बखाने।
अघ कि बिना तामस कछु आना।
धर्म की दया सरिस हरियाना।

आदि वचनों को सुनते हैं, तब भारतवर्ष की नीति के सम्बन्ध में हमें कभी निराशा हो नहीं सकती।

आजकल यह कहा जाता है कि हमारे किसान अन्धकार में पड़े हैं, हमारा देश तमस् प्रधान है। इसलिए उसे रजस् में प्रवेश करना होगा। पहली बात तो यह है कि मैं इस कथन में विश्वास ही नहीं रखता कि तमस्, रजस् और सत्य के बीच ऐसा कोई यांत्रिक भेद है, जिसके कारण हमें एक कमरे में से दूसरे में क्रमशः जाना ही पड़े। मेरे विचार में प्रायः हर मनुष्य में, तीनों गुण कुछ न कुछ अश में होते हैं। भेद केवल मात्रा का है। मेरा अपना दृढ़ विश्वास है कि हमारा मुल्क तमस् प्रधान नहीं, बल्कि सत्व प्रधान है और उक्त पर्चा इस बात का एक यत्किंचित् प्रमाण है। अगर यह पर्चा असाधारण बात होती तो यह सत्व प्रधानता का थोड़ा भी प्रमाण न हो सकता परन्तु जब हम जानते हैं कि लाखों किसानों को तुलसी दास जी के दोहे चौपाई कंठस्थ हैं और वे उनके अर्थ को भी समझते हैं तब हम अवश्य कह सकते हैं कि जिन लोगों में ऐसे विचार प्रचलित हैं उनकी सभ्यता का सत्व प्रधान होने का यह कुछ नहीं तो एक प्राथमिक प्रमाण भी है।

१५—बौद्धों को संदेश

कोलम्बो में, अखिल सलोन बौद्ध परिषद् के मानपत्र के उत्तर में गांधीजी ने जो भाषण दिया था उसका अनुवाद नीचे दिया जा रहा है—

आपके मानपत्र के लिये मैं आपको तहेदिल से धन्यवाद देता हूँ। आपके इस शील का भी मैं आदर करता हूँ कि आपने उसका अनुवाद मुझे पहले से ही दे दिया था। मैं श्रीमान् महाथेर और भिक्षुओं का भी उनके आशीर्वाद के लिये वैसा ही आभारी हूँ और आज इस सभा में उन्हें भरोसा दिलाना चाहता हूँ कि मैं उस आशीर्वाद के योग्य बनने की कोशिश हमेशा करता रहूँगा। आपके मानपत्र में हिन्दुस्तान के बुद्धगया मन्दिर का जिक्र आया है। श्रीमान् महाथेर ने भी उसका उल्लेख अभी किया। बहुत जमाने से इस मन्दिर के बारे में मैं दिलचस्पी लेता रहा हूँ और जो कुछ कि महासभा के लिये करना सम्भव था, बेलगाँव में अ० भा० राष्ट्रीय महासभा के सभापति की हैसियत से मुझे वह करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे पास सिलोन के किसी अज्ञात मित्र ने, मेरे काम पर जो कुछ चर्चा हुई थी वह सब भेजा था। उस स..य उस झगड़े में पड़ना मैंने ठीक नहीं समझा था। अब भी पड़ना नहीं चाहता। मैं आप को सिर्फ यही भरोसा दिला सकता हूँ कि मेरे लिये जो कुछ करना सम्भव था मैंने किया और अब भी करूँगा। मैं आपको केवल इतना ही कह सकता हूँ कि महासभा का वह प्रभाव नहीं है जो होना मैं चाहूँगा। उस मन्दिर की मालकियत हक के रास्ते में कितनी कानूनी मुश्किलें भी उठ खड़ी होती हैं। महासभा के पास इसके लिये जो अच्छे से अच्छे आदमी थे उन लोगों की एक अच्छी समिति इस पर

विचार करने और अगर हो सके तो मन्दिर के वर्तमान् मालिक महन्त से कोई समझौता भी कर लेने के लिये बनाई। उस समिति ने अपनी रिपोर्ट दे दी है और मैं यह मान लेता हूँ कि आपमें से कुछ लोगों ने उसे देखा भी है। समिति ने पंचायत के जरिये फैसला कराने की कोशिश की मगर इसमें वह असफल रही। मगर निराश होने की तो कोई वजह ही नहीं है। खैर मैं आपको यह कह सकता हूँ कि मेरी व्यक्तिगत सहानुभूति बिल्कुल आपके साथ है और अगर मेरे वश की बात होती तो मैं आज ही आपको मन्दिर दे देता। आपके मानपत्र में सिलोन के किसी और मन्दिर का भी जिक्र था। इस मन्दिर के बारे में किसी विवाद की बात मैं नहीं जानता इसलिये मैं चाहता हूँ कि आप में से कोई उस मन्दिर की हकीकतें मुझे बतलावें और यह भी बतलावें कि जब तक मैं यहाँ हूँ, उस बीच में मैं उसके लिये कौन-सी सहायता कर सकता हूँ। आप इस बारे में खातिर जमा रखें कि अगर मुझे ऐसा लगा कि इसके बारे में मैं कुछ कर सकता हूँ तो मैं इसके लिये वह करूँगा और यह आपको खुश करने के लिये नहीं बल्कि अपने मन के सन्तोष के लिये।

क्या मैं बौद्ध हूँ!

आपको शायद पता नहीं है कि मेरे बड़े लड़के ने मुझपर बौद्ध होने का इल्जाम लगाया था और मेरे कुछ हिन्दू देशवासी भी यह करने में नहीं हिचकते कि मैं सनातन हिन्दू धर्म के भेस में बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहा हूँ। मेरे लड़के के अभियोग से और हिन्दू मित्रों के इल्जाम से मेरी सहानुभूति है और कभी कभी मैं बुद्ध का अनुयायी होने के इल्जाम में ही, गर्व का अनुभव करता हूँ और इस सभा में मुझे आज यह कहने में जरा

भी हिचक नहीं है कि मैंने बुद्ध भगवान के जीवन से बहुत कुछ पाया है। कलकत्ते के नये बौद्ध मन्दिर में किसी वार्षिकोत्सव पर मैंने यही ख्याल जाहिर किये थे। उस सभा के नेता थे अनागरिक धर्मपाल। वे इस बात पर रो रहे थे कि उनके प्रिय कार्य की ओर लोग मुतवज्जह नहीं होते और इस रोने के लिए मैंने उन्हें बुरा भला कहा था। मैंने श्रोताओं से कहा कि बौद्ध धर्म के नाम वाली चीज भले ही हिन्दुस्तान से दूर हो गई होवे, मगर बुद्ध भगवान् का जीवन और उनकी शिक्षाएँ तो हिन्दुस्तान से दूर नहीं हुई हैं। यह बात तीन साल पहले की है और अब भी मैं उसमें कोई फेर-बदल करने की वजह नहीं देखता। मेरी यह सम्मति गहरे विचार के बाद हुई है कि बुद्ध के शिक्षाओं का प्रधान अंग हिन्दू धर्म के आज अटूट अंग हो रहे हैं। आज हिन्दू संसार के लिए गौतम के किये सुधारों के पीछे पग हटाना असंभव है। अपने महान त्याग, बैराग्य और निर्मल पवित्रता से गौतम बुद्ध ने हिन्दू धर्म पर अमिट छाप डाली है और हिन्दू धर्म उस महान शिक्षक से कभी उऋण नहीं हो सकता और अगर आप मुझे क्षमा करें और कहने देवें तो मैं कहूँगा कि हिन्दू धर्म ने आज के बौद्ध धर्म का जो अंश नहीं लिया है, वह बुद्ध के जीवन और शिक्षाओं का मुख्य अंश ही नहीं था।

हिन्दू और बौद्ध धर्म

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि बौद्ध धर्म या बल्कि बुद्ध की शिक्षाओं को हिन्दुस्तान में ही पूरी सफलता मिली, और दूसरा कुछ हो भी नहीं सकता था क्योंकि गौतम भी तो स्वयं सच्चे से सच्चे हिन्दुओं में से ही एक थे। उनकी नस-नस में हिन्दू धर्म की खूबियां भरी पड़ी थीं। उस समय वेदों की बेकार बातों के

नीचे गड़ी हुई कुछ खास शिक्षाओं में उन्होंने 'जान डाल दी। उनकी हिन्दू भावना ने बे मानी मतलब के शब्दों के जंगल में दबे हुए वेदों के अनमोल सत्यों को जाहिर किया। उन्होंने वेदों के कुछ शब्दों से ऐसे अर्थ निकाले जिनसे उस युग के लोग बिलकुल अपरिचित थे और उन्हें हिन्दुस्तान में सब से अच्छा क्षेत्र मिला। जहां कहीं बुद्ध भगवान् गये, उनके चारों ओर अहिन्दू नहीं, बल्कि वेदों की भावना को अपनी नस-नस में भरे हुए हिन्दू विद्वान् ही घिरे रहते थे। मगर उनके दिल के जैसा उसकी शिक्षा भी अत्यन्त विस्तृत थी और इसीलिए उनके मरने के बाद भी वह बनी रही, पृथ्वी के एक किनारे से दूसरे तक छा गयी, और बुद्ध का अनुयायी कहे जाने का खतरा होते हुए भी मैं इसे हिन्दू धर्म की ही विजय कहता हूँ। उन्होंने धर्म को कभी इन्कार नहीं किया केवल उसका आधार विस्तृत कर दिया। बुद्ध भगवान् ने इसमें एक नयी जान फूँक दी, इसको एक नया ही रूप दे दिया। मगर आगे जो कुछ मैं कहूँगा उसके लिए आप क्षमा करेंगे। मैं आपसे यही कहना चाहता हूँ कि बुद्ध की की शिक्षाएँ पूरी पूरी किसी देश के जीवन में, चाहे तिब्बत, सिलोन और बर्मा कोई देश क्यों न हो जब्ब नहीं हुई। मैं अपनी मर्यादा जानता हूँ। मैं बौद्ध धर्म के पांण्डित्य का दावा नहीं रखता। बौद्ध धर्म पर प्रश्नोत्तर में शायद नालंद विद्यालय का एक छोटा लड़का भी मुझे हरा देगा। मैं जानता हूँ कि यहाँ मैं बहुत बड़े विद्वान् भिक्षुओं और गृहस्थों के सामने बोल रहा हूँ, मगर मैं आपके समाने और अपनी अन्तरात्मा के सामने झूठा ठहरूँगा अगर मैं अपने दिल का विश्वास आपसे न कहूँ।

आस्तिकता

आप लोगों और हिन्दुस्तान के बाहर के बौद्धों ने बेशक बुद्ध की बहुत सी शिक्षाएँ ग्रहण की हैं। मगर जब मैं आपके

जीवन की जाँच करता हूँ और सिलोन, बर्मा, चीन या तिब्बत के भी मित्रों से प्रश्न पूछता हूँ तो मैं आपके जीवन में, और बुद्ध के जीवन का जो मैं मुख्य भाग समझता हूँ उसमें अन्तर देख कर फेर में पड़ जाता हूँ। अगर मेरी बातें आपको थका न देती हों तो मैं आपके सामने तीन खास बातें रखना चाहूँगा। पहली चीज है सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिशाली नियति में विश्वास करना। मैंने यह बात अनगिनत बार सुनी है और बौद्ध धर्म के भाव को प्रकट करने का दावा करने वाली किताबों में पढ़ी है कि गौतम बुद्ध परमात्मा में विश्वास नहीं करते थे। मेरी नम्र सम्मति में बुद्ध की शिक्षाओं के मुख्य बात से यह बिलकुल विरुद्ध है। मेरी नम्र सम्मति में यह भ्रान्ति इस बात से फैली कि गौतम बुद्ध ने अपने ज़माने में ईश्वर के नाम से गिनी जाने वाली सभी मामूली चीजों को इन्कार किया था और यह उचित ही किया था। उन्होंने बेशक ही, इस खयाल को इनकार किया कि ईश्वर नाम का कोई जानवर है जो द्वेष—विकार से विचलित होता हो, जो अपने कामों के लिए पछताता हो, जो दुनियावी राजों महाराजों जैसा घूस लेता हो, जो लालची हो, या जिसे कुछ खास मनुष्य ही प्रिय हों। उनकी आत्मा इस विश्वास के विरुद्ध जोरों से जाग उठी कि कोई ईश्वर नाम का जीवधारी है जो अपनी ही सृष्टि पशुओं का खून पीकर खुश होता है। इसलिए उन्होंने परमात्मा को उनके सच्चे आसन पर बिठाया और उस आसन पर बैठे लुटेरे को गिरा दिया। उन्होंने इस संसार के शाश्वत और अटल नैतिक नियमों पर जोर दिया, और उसकी घोषणा फिर फिर से की। उन्होंने बिना किसी हिचक के कहा है कि नियम ही परमात्मा है।

निर्वाण क्या ?

परमात्मा के नियम शाश्वत और अटल हैं। वे परमात्मा

से अलग नहीं किये जा सकते। उनकी सम्पूर्णता की यह शर्त अनिवार्य है। इसलिए यह भ्रान्ति फैली कि गौतम-बुद्ध का परमात्मा में विश्वास नहीं था और वे सिर्फ नैतिक नियमों में ही विश्वास करते थे और ईश्वर के बारे में यह भ्रान्ति फैलने से ही, 'निर्वाण' के बारे में भी मति भ्रम हुआ है। निर्वाण का अर्थ 'सम्पूर्ण रूप से अनस्तित्व' तो बेशक नहीं है। 'बुद्ध' के जीवन की एक मुख्य बात जो मैं समझ सका हूँ, वह यह है कि निर्वाण का अर्थ है, हमसे सभी बुराइयों का बिलकुल नष्ट हो जाना, सभी विकारों का नेस्तनाबूद हो जाना, जो कुछ कि भ्रष्ट है या भ्रष्ट हो सकता है उसकी हस्ती मिट जानी। निर्वाण कब्र की मृत शान्ति नहीं है बल्कि वह तो है उस आत्मा की जीवन्त शान्ति, जीवन सुख जिसने अपने आपको पहचान लिया हो, अनन्त के भीतर अपना निवास ढूँढ़ निकाला हो।

बुद्ध का सबसे बड़ा काम

तीसरी बात यह नीचा ख्याल है कि नीची श्रेणी के जीव-धारियों के जीवन का महत्व हिन्दुस्तान के बाहर ही समझा गया है। परमात्मा को उनके शाश्वत आसन पर पहुँचाने में बुद्ध की जो बड़ी भारी सेवा थी—उससे भी उनकी बड़ी सेवा मैं यह मानता हूँ कि उन्होंने मनुष्यों के ही बराबर दूसरे प्राणियों के भी जीवन का आदर करना सिखलाया, चाहे वे कितने ही छोटे क्यों न हों, मैं जानता हूँ कि उनका अपना भारतवर्ष उस हद तक ऊँचे नहीं चढ़ा, जो देखकर उन्हें खुशी होती, मगर जब उनकी शिक्षाएँ दूसरे देशों में बौद्ध धर्म के नाम से पहुँचीं तब उनका यह अर्थ लगने लगा कि पशुओं के जीवन की वही कीमत नहीं है जो मनुष्यों के जीवन की है। मुझे सिलोन के बौद्ध धर्म के रिवाजों का ठीक पता नहीं, मगर मैं जानता हूँ

कि चीन और बर्मा में उसने कौन सा रूप धारण किया है। खास कर बर्मा में कोई बौद्ध एक भी जानवर नहीं मारेगा, मगर, लोग उसे मार और पकाकर लावें तो उसे खाने में कोई झिझक नहीं होगी। संसार में अगर किसी शिक्षक ने यह सिखलाया है कि हर एक कार्य का फल अनिवार्य रूप से मिलता है तो गौतम बुद्ध ने ही। मगर तौ भी, आज हिन्दुस्तान के बाहर के बौद्ध अपने कामों के फलों से बचने की कोशिश करते हैं। मगर मुझे आपका धैर्य नष्ट नहीं करना चाहिये। मैंने कुछ बातों का थोड़ा जिक्र भर किया है, जिन्हें आपके सामने लाना मैं अपना कर्त्तव्य समझता था और मैं बड़ी नम्रता के साथ आपसे आग्रहपूर्वक उन पर ध्यान से विचार करने की प्रार्थना करता हूँ।

गौतम बुद्ध के देशवासियों का ऋण

बस एक और बात कहकर मैं भाषण समाप्त करूँगा। कल रात को स्वागत-समिति के सभ्यों ने किसी सभा में खादी और सिलोन के सम्बन्ध पर कुछ कहने के लिए मुझसे कहा था। इस विषय पर बोलने के लिए मेरे पास अधिक समय नहीं बचा है मगर मैं उसका संक्षेप दो ही वाक्यों में देने की कोशिश करूँगा। एक बात तो यह है कि आपके हृदयों के अधिष्ठाता बुद्धदेव की जन्मभूमि और उनके वंशजों के प्रति भी, जिनके लिए वे जिये और मरे आपका कुछ ऋण है, अपने ही देश में उनके वे वंशज मुसीबत की जिन्दगी गुज़ार रहे हैं। उनकी भूख कभी मिटती नहीं। मैं तब यह कहने का साहस करता हूँ कि खादी के जरिये आप अपने हृदयों के अधिष्ठातृ देव और अपने बीच संबंध जोड़ सकेंगे। अगर आप उनकी शिक्षा की मुख्य बात के अनुसार चलें और सभी प्रकार के जीवन को

क्षणिक मानते हुए जीवन को त्यागक्षेत्र मानें तो आप तुरन्त ही खादी के संदेश की खूबसूरती को समझ सकेंगे, जिसका कि दूसरा अर्थ है सादा जीवन और ऊँचे विचार। ये दो विचार लेकर मैं आपमें से हर एक से कहूँगा कि आप अपने लिए खादी के संदेश का अर्थ खुद ही लगा लीजिए। आपने मानपत्र देकर और आशीर्वाद देकर मुझ पर जो बड़ी भारी मिहरबानी दिखलाई है, उसके लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि आप मेरे नम्र संदेश को उसी प्रकार ग्रहण करेंगे जिस तरह कि वह दिया गया है। इसे आलोचक की आलोचना न समझकर दिली दोस्त का संदेश मानना।

१६-वर्णाश्रम धर्म

प्रश्नोत्तर

गाँधीजी के द० भारत के भ्रमण में स्थान स्थान पर ब्राह्मण मित्रों ने उनसे मिलकर ब्राह्मण-अब्राह्मण प्रश्न पर बातें कीं। भिन्न २ जगहों पर कभी कभी एक ही प्रकार के सवाल बार बार पूछे जाते थे, मगर हर जगह प्रश्नकर्त्ता की योग्यता के ख्याल से ही जवाब मिलता था। मैंने उन सभी चर्चाओं को यहाँ इकट्ठा करके प्रश्नोत्तर का रूप दे दिया है। तंजोर, चेट्टीनाड, विरुध नगर और टिन्नेवेल्ली की सभी बातचीत इसमें आगई है। मदुरा की बातचीत के समय मैं वहाँ हाज़िर नहीं था। मगर मेरा ख़याल है कि सभी बातचीत के इस संग्रह में वहां के प्रश्नों का मतलब भी आही गया होगा। इस पत्र में प्रकाशित सार्वजनिक भाषणों में जिन प्रश्नों का ज़िक्र आया है,

१०

और जिन बातचीतों का सारांश भी मैं दे चुका हूँ, और जो बातें उत्तर भारत के लिये ख़ास तौर पर लागू नहीं हैं उन्हें छोड़ देता हूँ।

वर्णधर्म

प्र०—आख़िर आप वर्णधर्म पर इतना जोर क्यों देते हैं ? क्या आप वर्त्तमान जातिप्रथा का समर्थन कर सकते हैं ? वर्ण की आप क्या परिभाषा करेंगे ?

उ०—वर्ण के मानी हैं किसी आदमी के पेशे का पहले से ही निश्चय हो जाना। वर्णधर्म यह है कि हर एक आदमी अपनी आजीविका के लिए अपने बाप का ही पेशा अख्तियार करें। हर एक लड़का स्वभाव से ही अपने बाप के ही वर्ण या रङ्ग का होता है और अपने बाप का ही पेशा चुनता है। इस तरह से वर्ण एक प्रकार से वंशानुक्रम का नियम है। वर्णधर्म कुछ हिन्दू धर्म पर ऊपर से लादा नहीं गया है, बल्कि हिन्दू धर्म के रक्षक मुनियों ने इसे ढूँढ़ निकाला है। यह कुछ आदमी की इजाद की हुई चीज नहीं है बल्कि जैसे कि न्यूटन साहेब के पता लगाने के पहले भी संसार के जर्रे जर्रे में परस्पर आकर्षण जारी था और न्यूटन साहेब के केवल आकृति कीं इस प्रवृत्ति का पता लगाया था उसी तरह यह भी प्रकृति का एक नियम है, जिसका हमें पता भर लगा है और जो गुरुत्वकर्षण के नियम के जैसे निरन्तर चालू है और पता लगने के पहले भी चालू था। इसका पता लगाना हिन्दुओं के भाग्य में बदा था। प्रकृति के कुछ नियमों का पता लगाकर और उनका प्रयोग करके पश्चिम वालों ने सहज ही अपनी माली मिल्कियत बढ़ा ली है। उसी तरह हिन्दुओं ने इस अबाध सामाजिक झुकाव का पता लगाकर आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता पाई है, जो दुनिया के किसी राष्ट्र के भाग्य में बदी नहीं थी।

वर्ण का जातिप्रथा से कोई संबन्ध नहीं है। ठीक अस्पृश्यता के ही समान जातिप्रथा भी हिन्दू धर्म में एक विकार ही है। वे सभी विकार जिनपर आज इतना जोर दिया जा रहा है, हिन्दू धर्म के अंग कभी नहीं थे। मगर क्या वैसे ही विकार इस्लाम और ईसाई-धर्म में नहीं मिलते ?

आपसे जितना हो, उनका विरोध कीजिये। वर्ण के नाम पर प्रचलित इस जाति-प्रथा के असुर का नाश कीजिये। वर्ण के इस भ्रष्ट स्वरूप ने ही हिन्दू धर्म और भारतवर्ष को नीचे गिराया है। हमारी आर्थिक और आध्यात्मिक अवनति का मुख्य कारण वर्णधर्म का पालन नहीं करना ही है। बेकारी और गुर्बत की यही एक वजह है और अछूतपने और हमारे धर्म की हानि की जिम्मेवार यही जातिप्रथा है।

मगर मूल नियम के इस भ्रष्ट स्वरूप और भ्रष्टाचार से जूझने में कहीं उस नियम से ही न जूझ पड़ना।

प्र०—वर्ण कै होते हैं ?

उ०—चार वर्ण होते हैं जो कि चार विभाग होना कुछ वर्णधर्म का ही अंग नहीं है। निरन्तर प्रयोग और शोध करने के बाद ऋषिगण इन चार विभागों पर यानी रोजी पैदा करने के चार तरीकों पर आये।

प्र०—तब तो तर्क के अनुसार जितने पेशे हैं, उतने ही वर्ण भी होने चाहियें।

उ०—कुछ जरूरी नहीं है। अलग अलग पेशों को सहज ही इन चार विभागों में बांटा जा सकता है—विद्या दान का, देश-रक्षा का, धनोत्पादन का और सेवा का। जहाँ तक दुनियां से मतलब हैं, सब से बढ़ा चढ़ा मुख्य विभाग है धन पैदा करने वालों का, जैसा कि सभी आश्रमों में मुख्य है, गृहस्थ आश्रम। सभी वर्णों का मध्यस्थ वैश्य है।

अगर धन और मिल्कियत न होवे तो रक्षक चाहिये ही नहीं। पहले और चौथे वर्ण भी इस तीसरे के लिये ही ज़रूरी हैं। पहले वर्ण में ज़रूर ही बहुत कम आदमी होंगे क्योंकि उसमें बहुत ही कठिन समय की ज़रूरत है और सुसंगठित समाज में दूसरे और चौथे वर्ण स्वाभाविक ही कम होंगे।

प्र०—अगर कोई आदमी ऐसा पेशा अख्तियार करता है जो उसका जन्मगत नहीं है तो वह किस वर्ण में गिना जायगा ?

उ०—हिन्दूधर्म के अनुसार उसका वर्ण तो वही है जिसमें उसका जन्म हुआ है, मगर अपने वर्ण का धर्म—पालन नहीं करने से वह अपने प्रति अन्याय करता है और पतित हो जाता है।

प्र०—अगर शूद्र ब्राह्मण का कर्म करे तो क्या वह पतित हो जायगा ?

उ०—शूद्र को भी विद्या बढ़ने का वही हक़ है जो ब्राह्मण को है, मगर शूद्र अगर विद्या-दान से रोज़ी पैदा करेगा तो वह पतित हो जायगा। प्राचीनकाल में व्यापारिक संघ अपने आपही चलते थे और किसी पेशे के सब आदमियों का पालन करने का अलिखित नियम था। सौ वर्ष पहले बढ़ई का लड़का वकील होना कभी नहीं चाहता था। आज वह चाहता है; क्योंकि वकालत के ज़रिये धन चुराना उसे सब से सहल मालूम पड़ता है। वकील समझता है कि अपने दिमाग से काम करने के लिये उसे १५ हज़ार रुपये लेने ही चाहिये और हक़ीम साहेब जैसे चिकित्सक अपनी सलाह के लिये एक हज़ार रुपये रोज़ाना लेना ज़रूरी समझते हैं!

प्र०—मगर क्या कोई अपने मन का पेशा अख्तियार ही न करे ?

उ०—मगर उसका मन तो अपने बाप-दादों ही के पेशे की

ओर चलना चाहिये। उसे अख्तियार करने में कोई बुराई नहीं है, उलटे यह बड़ा ही अच्छा होगा। आज तो हम केवल अस्वाभाविकता ही देखते हैं और इसलिये समाज में इतना जोरो-जुल्म, वैर-फूट है। हमें ऊपरी उदाहरणों में नहीं भूलना चाहिये। आज बढ़इयों के हजारों लड़के हैं जो अपने बाप-दादों का काम कर रहे हैं। मगर बढ़इयों के सौ लडके भी आज वकालत नहीं कर रहे होंगे। पुराने जमाने में दूसरों के धन माल पर कब्ज़ा जमाने का लोभ नहीं था। उदाहरण के लिये सिसरों के जमाने में वकालत का काम अवैतनिक था। और किसी बुद्धिमान् बढ़ई के लिये, रुपया कमाने नहीं बल्कि सेवार्थ वकालत करनी हमेशा योग्य होगी। पीछे जाकर नाम और धन की उच्चाभिलाषा आयी। पहले के चिकित्सक समाज की सेवा करते थे और समाज उन्हें जो कुछ दे देता, उसी पर सन्तुष्ट रहते थे मगर अब वे तिजारती बन गये हैं, बल्कि समाज के लिये खतरनाक भी हो रहे हैं। जब कि असल मकसद खिदमत की ही होती थी, वकालत और डाक्टरी को उचित ही उदार पेशा कहा जाता था।

प्र०—मगर यह सब कुछ तो आदर्श परिस्थिति की बातें हैं। मगर आज जब कि सब कोई धन कमाने पर कमर कसे हुये हैं, आप कौन सा रास्ता सुझाते हैं?

उ०—यह तो आपने बहुत बढ़ा कर बात कही है। जरा स्कूलों और कालेजों में पढ़नेवाले लड़कों की तायदाद देखिये और फिर पढ़े लिखों के पेशे अख्तियार करने वालों का अनुपात तो निकालिये। सभी कोई डाकेजनी नहीं कर सकते और आज की हलचल तो डाकेजनी के लिये ही है। आखिर कितने आदमी वकील और सरकारी नौकर बन सकते हैं। जो लोग उचित तरीकों से धन पैदा करने में लगे हुये हैं, वे वैश्य हैं।

उनका भी पेशा जब डाकेजनी का हो जाता है तो घृणित बन जाता है। लाखों करोड़पति तो हो नहीं सकते।

प्र०—जहाँ तक तामिल से सरोकार है, सभी अब्राह्मण अपने बाप-दादों के पेशे छोड़ कर दूसरों में लगना चाहते हैं।

उ०—मैं सवा दो करोड़ तामिलों की ओर से बोल के आपके हक को इन्कार करता हूँ। मैं आपको एक मन्त्र बताता हूँ:—

"हम वह बनने की कोशिश न करें जो सब कोई नहीं बन सकते।" और आप इस मन्त्र का पालन केवल मेरी परिभाषा के अनुसार वर्ण के आधार पर ही कर सकते हैं।

प्र०—आप कहते रहे हैं कि वर्णधर्म हमारी भौतिक इच्छाओं पर अंकुश रखता है, यह किस प्रकार होता है।

उ०—जब मैं अपने बाप का ही धन्धा करता हूँ तो मुझे उसको सीखने के लिये स्कूल में जाने की भी जरूरत नहीं है और यों मेरी मानसिक शक्ति आध्यात्मिक खोजों के लिये मुक्त हो जाती है, क्योंकि मेरी रोजी निश्चित हो जाती है। जब मैं दूसरे धन्धों पर मन लगाता हूँ तो आत्मप्राप्ति की अपनी शक्ति बेच देता हूँ, यानी एक कानी कौड़ी में अपनी आत्मा को बेच देता हूँ।

प्र०—आप आध्यात्मिक अभ्यासों के लिये शक्ति मुक्त कर देने की बात करते हैं। उधर जो लोग अपने बाप-दादों का धन्धा कर रहे हैं, उनमें कोई आध्यात्मिक संस्कृति है ही नहीं। उनका वर्ण ही उन्हें इसके अयोग्य बना डालता है।

उ०—हम वर्ण की विकृत भावनाओं को लेकर बातें कर रहे हैं। जब वर्णधर्म का पालन सचमुच में होता था, हमें आध्यात्मिक अभ्यासों के लिये काफी समय था। अब भी आप दूर के गाँवों में जाइये और देखिये शहरवालों के बनिस्बत

उनमें कितनी अधिक आध्यात्मिक संस्कृति है। ये शहरवाले आत्मा का नाम ही नहीं जानते।

मगर आपने तो इस युग का प्रधान दोष ही ढूँढ़ निकाला है। हम वह बनने की कोशिश न करें जो सब कोई नहीं हो सकते। अगर जो कोई, वह चाहे गीता नहीं पढ़ सकता तो मैं गीता पढ़ना भी नहीं चाहता हूँ, इसलिये मेरा सारा हृदय धन पैदा करने के लिये अंगरेजी पढ़ने के विरुद्ध उबल उठता है। इसलिये हमें अपना सामाजिक जीवन इस ढब का बनाना होगा जिसमें देश के करोड़ों आदमियों को वह फुर्सत मिल सका करे जो हम आज मुट्ठी भर आदमी ही भोगते हैं, और जब तक हम वर्णधर्म का पालन नहीं करते यह होने को नहीं है।

प्र०—अगर हम एक ही सवाल बार बार पूछें तो आप हमें क्षमा करेंगे। हम इसे ठीक-ठीक समझना चाहते हैं। अलग अलग समयों पर अलग-अलग धन्धा करनेवाले का कौन वर्ण होगा।

उ०—जब तक वह अपने बाप के धन्धे से ही अपना पेट पालता हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ सकता। जब तक वह सेवा के लिये करता हो, वह जो चाहे कर सकता है। मगर जो धन के लिये अपना पेशा बार-बार बदलता हो वह वर्ण से पतित हो जाता है।

प्र०—किसी शूद्र में ब्राह्मण के सभी गुण हों, मगर वह क्या ब्राह्मण नहीं कहा ज़ा सकता?

उ०—इस जन्म में ब्राह्मण नहीं कहला सकता। और जिस वर्ण में उसका जन्म नहीं हुआ हो उसका दावा नहीं करना उसके लिये अच्छा ही होगा। यह सच्ची नम्रता का चिन्ह है।

प्र०—आप क्या यह मानते हैं कि वर्णसम्बन्धी गुण वंश विरासत से मिलते हैं, खुद पैदा नहीं किये जा सकते?

उ०—वे पैदा किये जा सकते हैं। विरासत में मिले गुणों में वृद्धि की जा सकती है और नये पैदा किये जा सकते हैं। मगर धन प्राप्ति के नये रास्ते हमें नहीं ढूँढ़ने चाहिये, ढूँढ़ने की जरूरत ही नहीं है। हमें तो अपने बाप-दादों से जो मिला है उसी में तब तक सन्तुष्ट रहना चाहिये जब तक कि वह पवित्र हो।

प्र०—क्या अपनी कुल परम्परा की प्रवृत्ति के विरुद्ध स्वभाव और गुण वाले आदमी नहीं दिखायी पड़ते ?

उ०—यह मुश्किल सवाल है। हम अपने सम्बन्ध की सभी पिछली बातें नहीं जानते। मगर वर्ण को जिस तरह मैंने समझाने की कोशिश की है, उसके लिए उसे समझने के लिए हमें और गहरे उतरने की जरूरत नहीं है। अगर मेरे पिता व्यापारी हैं और मुझमें सैनिक के गुण मौजूद हैं तो मैं बिना किसी पुरस्कार के सैनिक बनकर देशसेवा कर सकता हूँ, मगर अपनी रोजी के लिये मुझे व्यापार का ही आसरा रखना होगा।

प्र०—आज की जातिप्रथा तो सिर्फ रोटी बेटी के सम्बन्ध में बन्धन की ही देखने में आती है। तब क्या वर्ण रक्षा के मानी हैं इन बन्धनों को बनाये रखना।

उ०—नहीं, बिलकुल नहीं। इसके शुद्ध स्वरूप में तो ऐसे कोई बन्धन हो ही नहीं सकते।

प्र०—क्या उन्हें हम छोड़ सकते हैं ?

उ०—हाँ, छोड़ सकते हैं और दूसरे वर्णों में बेटी व्यवहार करने में भी वर्णरक्षा हो सकती है।

प्र०—तब माता का वर्ण नष्ट होगा न ?

उ०—पत्नी पति के वर्ण में मिल जाती है।

प्र०—वर्णधर्म का सिद्धान्त जिस प्रकार आपने प्रतिपादित

किया है, शास्त्रों में मिलता है, या वह केवल आपका ही है।

उ०—मेरा नहीं है। मैंने इसे भगवद्गीता से लिया है।

प्र०—मनुस्मृति में दिये गये सिद्धान्त को क्या आप पसन्द करते हैं?

उ०—सिद्धान्त तो वहाँ ठीक है, मगर उसके प्रयोग मुझे पूरे-पूरे नहीं जँचते। उस ग्रंथ के कई अंशों पर कई तरह के उज्र किये जा सकते हैं। मैं आशा करता हूँ कि पीछे के क्षेपक होंगे।

प्र०—क्या मनुस्मृति में बहुत अन्याय नहीं है?

उ०—हाँ, स्त्रियों और नामधारी नीच जातियों के प्रति अन्याय है। शास्त्र के नाम से प्रचलित सभी कुछ शास्त्र ही नहीं है। इसलिये नामधारी शास्त्रों को खूब सँभाल कर पढ़ना चाहिये।

प्र०—मगर आप तो भगवद्गीता का आधार रखते हैं न? उसमें तो वर्ण को गुण और कर्म पर माना है, आप यहाँ जन्म को कहाँ से ला रखते हैं?

उ०—मैं भगवद्गीता ही का प्रमाण देता हूँ, क्योंकि मैं एक ही पुस्तक पाता हूँ जिसके विरुद्ध कोई उज्र नहीं उठाया जा सकता। यह सिर्फ सिद्धान्त निश्चित कर देती है और प्रयोग आप खुद ढूँढ़ लीजिये। गीता में गुण और कर्म के अनुसार वर्ण का होना लिखा जरूर है मगर गुण और कर्म जन्म से मिलते हैं। भगवान् कृष्ण ने कहा है, 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' यानी 'चारों वर्ण मैंने बनाये हैं,' और मैं समझता हूँ कि जन्म से। अगर वर्णधर्म जन्म पर निर्भर न हो तो यह है ही क्या?

प्र०—मगर वर्ण में कोई बड़प्पन, छुटपन तो नहीं है?

उ०—नहीं, जरा भी नहीं, अगर्चे कि मैं कहता हूँ कि ब्राह्मण दूसरे वर्णों का ऊपरी है, जिस प्रकार कि शरीर का

ऊपरी सिर है। इसके मानी है ऊँची सेवा करने की योग्यता न कि ऊँची स्थिति। जिस घड़ी ऊँची स्थिति का घमंड शुरू हो जाता है, यह पैरों तले कुचलने के काबिल बन जाता है।

प्र०—'कुरल' को तो आप जानते हैं। क्या आपको मालूम है कि इस तामिल नीति ग्रन्थ में लिखा है कि जन्म से कोई जाति नहीं होती। जन्म से तो सभी जीव बराबर होते हैं।

उ०—आज के सुवालगों के जवाब में वे यह कहते हैं। जब किसी वर्ण ने बड़प्पन का दावा किया उन्हें उसके खिलाफ अपनी आवाज उठानी पड़ी थी। मगर इसके जन्म से वर्ण का निश्चय होने के सिद्धांत की जड़ नहीं ही कटती। असमानता की जड़ काटने के लिये यह सुधारक का वार है।

प्र०—आज की चाल तो इतनी बीगड़ी हुई है। क्या यह सब छोड़ कर नये सिरे से ही शुरू करना ठीक न होगा?

उ०—बेशक, अगर हम परमात्मा होते। हम कलम के एक झटके से ही हिन्दू जाति का स्वभाव बदल नहीं सकते। हम इस नियम का पालन करने का रास्ता ढूँढ़ निकाल सकते हैं, इसे नष्ट करने का नहीं।

प्र०—जब शास्त्र कर्त्ताओं ने नयी स्मृतियाँ बनायी हैं तो आप क्यों नहीं एक नयी स्मृति बना सकते?

उ०—अगर मैं नयी सृष्टि बना सकता? तब तो मेरी हालत विश्वामित्र से भी कहीं बिगड़ी हुई होगी और विश्वामित्र मुझसे कितने बड़े थे।

प्र०—जब तक आप वर्ण को नष्ट नहीं करते, अस्पृश्यता नहीं नष्ट हो सकती।

उ०—मैं ऐसा नहीं समझता। अगर अस्पृश्यता को दूर करने में वर्णाश्रम नेस्तनाबूद हो जाय तो मैं कुछ भी शोक

नहीं करूँगा। मगर मेरे बतलाये 'वर्ण' का स्पृश्यता से क्या सरोकार है।

प्र०—सुधार के विरोधी लोग आपके ही प्रमाण उद्धृत करते रहते हैं।

उ०—यह तो सभी सुधारकों के भाग्य में बदा होता है। स्वार्थी लोग उसके वचनों को गलत रूप में उतारेंगे और कुछ लोग यह भी चाहते हैं कि मैं हिन्दू धर्म को छोड़ दूँ। अगर उनके हाथ की बात होती तो उन्होंने मुझे हिन्दू धर्म में से अब तक निकाल दिया होता। मैं आज तक वर्ण धर्म के समर्थन के लिये कहीं दौड़ा नहीं गया हूँ, अगर्चे कि अस्पृश्यता-निवारण के लिये मैं वे कोम गया था। कांग्रेस के उस प्रस्ताव का बनानेवाला मैं ही हूँ। जो स्वराज के तीन स्तम्भों—खादी प्रचार, हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के संस्थापन और अछूतोद्धार के सम्बन्ध में था। मगर मैंने वर्णाश्रम धर्म की स्थापना को चौथा स्तम्भ कभी नहीं बनाया है।

प्र०—क्या आप जानते हैं कि आपके बहुत से अनुयायी आपकी शिक्षाओं को तोड़ते मरोड़ते हैं?

उ०—क्या मैं ही नहीं जानता? मैं जानता हूँ कि मेरे बहुत से अनुयायी सिर्फ नाम ही के हैं।

प्र०—बौद्धधर्म हिन्दुस्तान से भगाया गया क्योंकि उसमें ब्राह्मण दुखी हो गये। उसी तरह हिन्दू धर्म से उनका मतलब न सधा तो इसे भी मार भगावेंगे।

उ०—करने तो दीजिये। मगर मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि बौद्धधर्म हिन्दुस्तान से गया नहीं है। हिंदुस्तान ही वही देश है जिसने बुद्ध की शिक्षायें सबसे अधिक ग्रहण कीं। बौद्धधर्म को बुद्ध के भावों से अलग ही गिनना होगा, और उसी प्रकार जिस तरह की ईसा की शिक्षाओं से ईसाई धर्म अलग है। वे बौद्ध-

धर्म को इस तरह भगा सकें कि उन्होंने बुद्ध की मूल शिक्षा को अपने में जज्ब कर लिया था।

प्र०—उन्हीं ब्राह्मणों ने जिन्होंने बौद्धधर्म की अच्छी बातें लीं, बुरे से बुरे गुनाह भी किये हैं। अमृतसर कांड से भी बुरा गुनाह अछूतों को मन्दिर में प्रवेश न करने देकर और उन पर क्रूर बन्धन लगा कर किया है।

उ०—कुछ हद तक आपका कहना सही है। मगर ब्राह्मणों के मत्थे दोष देकर आप भूल करते हैं। इसके लिये सारा हिंदू-धर्म दोषी है। वर्णधर्म के बिगड़ने पर उससे अस्पृश्यता पैदा हुई। इसमें जानबूझ कर कोई बदमाशी नहीं थी, मगर फल तो बड़ी करुणा-जनक दुर्घटना थी।

प्र०—मगर जब तक आप वर्णाश्रम धर्म शब्द पर अड़े रहते हैं, इसके साथ ये दुःखदायी प्रसंग आही जाते हैं।

उ०—इससे तो यही शिक्षा मिलती है कि बुरे प्रसंगों को ही नष्ट कीजिये और वर्णधर्म को पहले जैसा शुद्ध कर लीजिये।

मेरा कार्यक्रम

प्र०—आज तो सभी ओर गड़बड़ है। हम किस तरह पीछे लौटेंगे ?

उ०—मुझे आपसे इतना ही कहना है कि नींव को मत खोद फेंकिये, उसे शुद्ध करने का ही प्रयत्न कीजिये। इसके बदले आप एक नया धर्म ही देना चाहते हैं, जिसे स्वीकार करने को कोई तैयार नहीं है। ब्राह्मणधर्म और हिन्दूधर्म एक ही मानी के शब्द हैं। यानी हिन्दूधर्म के लिये हमारे पास जो एकमात्र शब्द था, वह ब्राह्मणधर्म या ब्रह्मविद्या और उसे नष्ट करके आप हिन्दूधर्म को ही नष्ट करना चाहते हैं। ब्राह्मण लोग जब कभी आपके अधिकारों पर हमला करें, आप उनसे एक एक जौ

करके लड़िए, और उन्हें सुधारने का प्रयत्न कीजिये। मगर हर एक ब्राह्मण को गाली देने में तो कोई लाभ नहीं है। ब्राह्मण भी तो सब तरह के हैं। एक तो शुरूसे आखीर तक सुधारक ही हैं और दूसरा है सुधारविरोधी। आपको अपनी ओर सुधारक ब्राह्मणों में से अच्छे से अच्छों को लाना और उनके सहारे रचनात्मक कार्य करना ही होगा; जिससे ब्राह्मणों, अब्राह्मणों दोनों का ही उद्धार होगा।

सुधार-विरोधियों से लड़िए और उन्हें खुलासा कह दीजिए; अगर आप धन और अधिकार का लोभ नहीं छोड़ते, अगर आप विद्या नहीं पढ़ते और हमें हमारा धर्म नहीं सिखलाते तो हम आपको ब्राह्मण नहीं मानेंगे। तब आपका विरोध वे नहीं करेंगे। सुधार के लिये आप खूब जोरदार हलचल कीजिये; जिन स्कूलों वा मंदिरों में किसी अब्राह्मण के साथ दूसरा व्यौहार किया जाता हो, उनका त्याग कीजिये। आप पवित्र चरित्रवाले विद्वान् और सांसारिक लोभों से रहित ब्राह्मण पुरोहितों को ही पूछिए। अगर पुराने मंदिरों में नामधारी अछूतों को प्रवेश न करने दिया जाय तो आप नये मंदिर बनवाइये!

तब सहभोज का सवाल आता है। मैं इस पर किसी से झगड़ा नहीं करूँगा, मगर जहाँ कहीं भेदभाव होवे वहाँ मैं जाने से इनकार कर सकता हूँ।

"इसके बाद मैं अछूतों के साथ भाईचारा करूँगा और उनके साथ सगा भाई जैसा व्यौहार करूँगा और जाति उपजाति के भेदों को तोड़ फेंकूँगा। इसलिये अगर मुझे अपने लड़के का विवाह करना है तो अपने उपजाति को छोड़ कर दूसरे उपजाति में से ही लड़की चुनूँगा। भद्दे रिवाज के कारण हम आज इतने बँधे हुये हैं कि आप न तो मुझे गुजरात

में बसाने के लिए एक लड़की दिजिएगा और न तामिल में बसने के लिए गुजरात की कोई लड़की लीजिएगा।

तब मैं अछूतों को धार्मिक शिक्षण दूँगा। उनको हिन्दू धर्म और नीति शास्त्र के मूल तत्वों से परिचय कराऊँगा। आज तो वे बिलकुल पशु के जैसा जीवन बिता रहे हैं। मैं उन्हें निषिद्ध भोजन खाने से रोकूँगा और पवित्र जीवन बिताने को उत्साहित करूँगा। आप सहज ही सवालों का विस्तार कर सकते हैं और एक बहुत बड़ा रचनात्मक कार्यक्रम तैयार कर सकते हैं।

हिन्दूधर्म ने हमारा कौनसा भला किया!

प्र०—हम देखते हैं कि आप सब कुछ हिन्दू धर्म के नाम पर कहते हैं, क्या हमें बतलाइएगा कि हिन्दू धर्म ने हमारे भले के लिए क्या किया है? क्या यह बुरे वहमों और आचारों की विरासत नहीं है?

उ०—मैंने समझा था कि मैं यह स्पष्ट कर चुका हूँ। खुद वर्णाश्रम धर्म ही संसार को हिन्दू धर्म की अपूर्व भेंट है। हिन्दू धर्म ने हमें भय से बचा लिया है। अगर हिन्दूधर्म मेरे सहारे को नहीं आता तो मेरे लिए आत्महत्या के सिवाय और कोई चारा नहीं होता। मैं हिन्दू इसीलिये हूँ कि हिन्दू धर्म ही वह चीज है जो संसार को रहने लायक बनाता है। हिन्दू धर्म से बौद्ध धर्म पैदा हुआ था। आज जो हम देखते हैं, वह शुद्ध हिन्दू धर्म नहीं है बल्कि वह अक्सर उसकी हज्जो होती है नहीं तो इसकी ओर से मुझे वकालत करने की जरूरत नहीं पड़ती, जैसे कि अगर मैं पूर्ण पवित्र होता तो मुझे आपसे बात करने की जरूरत नहीं होती। परमात्मा अपनी ज़बान से नहीं बोलता है और जो उसके नजदीक पहुँचता है वह उसी के

समान बन जाता है। हिन्दूधर्म मुझे सिखलाता है कि मेरी अन्तरात्मा की शक्ति की मर्यादा मेरा यह शरीर है।

जैसे कि पश्चिम में भौतिक वस्तुओं के सबंध में आश्चर्य-जनक शोध हुये हैं, उसी प्रकार धर्म संबंधी आत्मा के संबंध में हिन्दुओं ने उससे भी आश्चर्यजनक शोध किये हैं। मगर इन महान और सुन्दर शोधों को देखने के लिए हमें आँखें ही नहीं हैं। पश्चिमी सभ्यता ने जो भौतिक उन्नति की है, उसी से हमारी आँखें चौंधियाँ गई हैं। मैं उसी उन्नति पर मुग्ध नहीं होगया हूँ। सच पूछिये तो यह ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों परमात्मा ने ही भारतवर्ष को उस रास्ते से उन्नति करने से रोका हो जिसमें वह भौतिकता की धारा को रोकने का अपना विशेष उद्देश्य पूरा कर सके। आखिर हिन्दू धर्म में वह कोई शै है जो इसे अब तक जिलाये हुये है। इसने बैबिलोन, सीरिया, फारस और मिसर का पतन देखा है। अपनी चहार तरफ नज़र डालिए। कहाँ है रोम और कहाँ है यूनान? क्या आप कहीं गिब्बन की इटाली या प्राचीन रोम को ही,—क्योंकि रोम ही इटाली था—ढूँढ़ सकते हैं? ज़रा यूनान जाइये। संसार-प्रसिद्ध ग्रीक सभ्यता कहाँ है? फिर भारत को लौटिये और पुराने से पुराने लेखों को और फिर आप सभी ओर नज़र डालिये और आपको लाचार कहना पड़ेगा कि 'हां, मैं यहां प्राचीन भारत को अभी जिन्दा देखता हूँ।' बेशक यहाँ कूड़े के ढेर हैं, मगर उनके नीचे लाल रत्न छिपे हैं। और इसकी वजह कि आज तक हिन्दू धर्म जिन्दा क्यों रह गया, यह है कि इसने अपने सामने भौतिक उन्नति के बदले आध्यात्मिक उन्नति का उद्देश्य रखा था।

इसकी कई भेंटों में यह अपूर्व ही है कि मनुष्यों और गूंग

पशुओं में एक ही आत्मा बसती है। मेरे लिये गोपूजा एक बहुत बड़ा विचार है जिसका विस्तार किया जा सकता है। आज के धर्म-प्रचार का इसमें न होना मेरे लिये एक बहुमूल्य ही चीज़ है। इसे उपदेश देने की जरूरत नहीं है। यह सिखलाता है, 'ऐसा जीवन बनाओ।' यह काम मेरा है, आपका है कि हम ऐसा जीवन बतावें और फिर उसका असर युग युग तक चला जायगा। इसने आदमी भी कैसे पैदा किये? रामानुज, चैतन्य, रामकृष्ण जैसे—हिन्दू पर अपनी छाप छोड़ जानेवाले और आधुनिक नामों को तो छोड़ ही दीज़िये। किसी प्रकार हिन्दू धर्म की शक्ति समाप्त नहीं कही जा सकती, यह मरा हुआ धर्म नहीं है।

तब चार आश्रमों की भी भेंट तो है ही! यह भी अपूर्व ही भेंट है। इसके समान तो संसार में कुछ भी नहीं है। कैथोलिक ईसाइयों में ब्रह्मचारियों का संघ है सही, मगर वह कोई संस्था नहीं है, मगर यहाँ हिन्दुस्तान में तो हर एक लड़के को ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करना ही पड़ता था। क्या ही उदात्त कल्पना है। आज हमारी आंखें मैली हो रही हैं। विचार गंदे हो रहे हैं और शरीर सब से गंदा क्योंकि हम हिन्दू धर्म को इनकार कर रहे हैं।

इसके अलावा एक और चीज है जिसका जिक्र मैंने नहीं किया है। मैक्समूलर ने चालीस साल पहले कहा था कि यूरोप को यह खयाल अब आरहा है कि पुनर्जन्म और भिन्न २ योनियों में जन्म कुछ खामखयाली नहीं है बल्कि सत्य घटना है। हां, यह तो सम्पूर्णतः हिन्दू धर्म की ही भेंट है।

आज इन्हीं के अनुयायी वर्णाश्रम धर्म और हिन्दू धर्म का उलटा अर्थ लगाते हैं, उन्हें इन्कार करते हैं। इसकी दवा

विनाश नहीं है, सुधार है। हम अपने में सच्ची हिन्दू भावना पैदा करें और तब पूछें कि इस धर्म से आत्मा को पूरा पूरा संतोष होता है या नहीं।

१७—हिन्दू धर्म के तीन सूत्र

भादरण (बड़ौदा-राज्य) की ओर से अर्पित अभिनन्द-पत्र का उत्तर देते हुये गांधी जी ने कहा—"आपके प्रदर्शित प्रेम और अभिनन्दनपत्र का उत्तर देने के पहले मैं आपसे एक प्रार्थना करना चाहता हूँ। यदि मैं यह न कहूँ तो मानों आपके प्रति मैं अपराध ही करूँगा। आप जो इतनी रात गये इतनी ज्यादह तादाद में यहाँ एकत्र हुये हैं, यह देख कर मुझे बहुत आनन्द होता है, पर साथ ही मुझे दुःख भी होता है। इस सभा के व्यवस्थापकों ने जो व्यवस्था की है, वह जानबूझ कर की है या अनजान में सो मैं नहीं जानता। पर हर सभा-स्थान में जानेवाले लोग अब मेरी खासियतें जान गये हैं। इनमें एक यह है कि यदि किसी भी जल्से में मैं अन्त्यजा के लिये अलग विभाग देखूँ तो मुझे भारी चोट पहुँचे और कुछ भी बोलना असंभव हो जाय। पर आपने (अपने अभिनन्द में) कहा है और दूसरे लोग भी कहते हैं कि अहिंसा मेरे धर्म का परम सूत्र है। अहिंसा को अपने जीवन में गुंथ रहा हूँ। यदि यह बात सच हो तो मुझसे यह नहीं हो सकता कि आपके दिल को चोट पहुँचाना चाहूँ। मैं यह भी नहीं चाहता कि आप बिना सोचे-समझे कुछ करें। रोष में भी मैं आपसे कुछ कराना नहीं चाहता। मैं जो कुछ आपसे करा सकता हूँ। वह मैं आपके हृदय और बुद्धि को ही रिझाकर करा सकता हूँ अतएव मेरी प्रार्थना है कि यदि आप अस्पृश्यों को हिन्दू धर्म का कलंक मानते हों तो आप इस विषय में सहमत हों कि जो यह

जो बांस की टट्टी हमें अन्त्यज भाइयों से जुदा कर रही है, वह निर्मूल हो जाय।"

ये शब्द मुँह में से निकल रहे थे कि कुछ लोग सभा से उठ कर शान्ति के साथ बांस की टट्टी के बंद छोड़ने लगे। यह देखकर गांधी जी कहने लगे—

"मैं यह नहीं कहता कि आप टट्टी को अभी तोड़ डालें या सभा में गड़बड़ करके आप कोई काम करें। मैं तो आपकी सम्मति लेना चाहता हूँ। क्या आप चाहते हैं कि यह टट्टी न रहे और हमारे अन्त्यज भाई बहन हमारे साथ आकर बैठें? (बहुतेरे हाथ ऊपर उठे, सिर्फ एक हाथ खिलाफ।) टट्टी टूटी, अन्त्यज सब के साथ आकर बैठ गये।

"आपने मुझे अभिनन्दन-पत्र तो दिया ही है। आपने जिस चौकठे में मढ़ाकर कागज़ पर अथवा खादी पर छाप कर जो अभिनन्दन-पत्र दिया, उसका कोई मूल्य मेरे नज़दीक़ नहीं, अथवा उतना ही जितना आप खुद अपने आचरण के द्वारा आंक दें,पर अभी आपने इस टट्टी को तोड़कर जो अभिनन्दन मेरा किया है वह हमेशा के लिये हमारे हृदय में अंकित रहेगा। ऐसा ही अभिनन्दन-पत्र मैं अपने हिन्दू-भाई बहनों से चाहता हूँ। आप यदि थोड़ा-बहुत सूत लाकर दे देंगे, मेरे सामने तरह-तरह के फलफूल मेवे लाकर रख देंगे, या अन्त्यज बालिका के हाथ से कुंकुम तिलक करावेंगे (यहाँ कराया गया था) तो इसमें मुझे खुशी नहीं हो सकती। ये चीजें तो मुझे सब जगह मिल जायगी; पर अभी आप ने जो चीज दी है उसके लिये तो प्रेम की जंजीर दरकार है और मैं इस प्रेम की जंजीर के सिवा आपसे और कुछ नहीं चाहता। क्योंकि प्रेम अहिंसा का अंग है। अहिंसा का समावेश प्रेम में हो जाता है।

सनातनी भाई शायद यह मानते हों कि मैं हिन्दूसंसार के

दिल पर आघात पहुँचाना चाहता हूँ। मैं खुद अपने को सनातनी गिनता हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरा दावा बहुत कम भाई बहन क़बूल करते होंगे—पर मेरा यह दावा है और रहेगा और मैं तो कह चुका हूँ कि आज नहीं तो मेरी मृत्यु के बाद समाज जरूर इसको कुबूल करेगा कि गांधी सनातनी हिन्दू था। 'सनातनी' के मानी है (प्राचीन)। मेरे भाव प्राचीन हैं—अर्थात् यह भाव मुझे प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में दिखाई देते हैं और उन्हें मैं अपने जीवन रूप बनाने की कोशिश कर रहा हूँ। इसी कारण मैं मानता हूँ कि मेरा सनातनी होने का दावा बिल्कुल ठीक है। बना बना कर शास्त्रों की कथा कहने वालों को मैं सनातनी नहीं कह सकता। सनातनी तो वही है जिसके रगोंरेशे में हिन्दू-धर्म व्याप्त हो। इस हिन्दू-धर्म का वर्णन शंकर भगवान् ने एक ही वाक्य में कर दिया है—"ब्रह्म सत्यं जगम्मिथ्या" दूसरे ऋषियों ने कहा है, सत्य से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं। और तीसरे ने कहा है कि हिन्दू धर्म का अर्थ है अहिंसा। इनमें से आप चाहे किसी सूत्र को ले लीजिये, उसमें आपको हिन्दू-धर्म का रहस्य मिल जायगा। यह तीन सूत्र क्या हैं? मानों हिन्दू-धर्म शास्त्र को दुह दुह कर निकाला उनका नवनीत ही है। धर्म का अनुयायी, सनातन-धर्म का दावा करने वाला मैं किसी भी शख्स के दिल को चोट पहुँचाना न चाहूँगा। मैं तो सिर्फ इतना ही चाहूँगा कि आप अन्त्यजों को स्पर्श करें। क्योंकि अन्त्यज मनुष्य हैं। और चाहता हूँ कि उनकी सेवा हो; क्योंकि वे सेवा के लायक हैं। माता जो सेवा बालक की करती है वही सेवा वे समाज की करते हैं। उनको अछूत मानना, उनका तिरस्कार करना मानों अपना मनुष्यत्व गँवाना है। हिन्दुस्तान आज संसार में अछूत बन गया है। इसका कारण यह है कि वह अनेक कोटि अर्थात् असंख्य लोगों को

अस्पृश्य मानता चला आया है और इसका फल यह हुआ है कि हमारा सत्संग कराने वाले मुसलमान भी संसार में अस्पृश्य हो गये हैं। ऐसा उलटा परिणाम क्यों पैदा हुआ! इसका एक ही जवाब है। "जैसा करोगे वैसा पावोगे" यह ईश्वर का न्याय है। संसार के द्वारा ईश्वर हमें इस न्याय की शिक्षा दे रहा है। यह कठिन समस्या नहीं है, सीधा न्याय है।

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" भगवान् कृष्ण ने कहा है कि तुम जिस तरह मुझे भजोगे उसी तरह मैं तुम्हें भजूंगा। इसलिए यदि आप उस बात को समझ लेंगे जो मैं आप से चाहता हूँ तो आपको कष्ट न उठाना पड़ेगा। मैं आपको पीड़ा देना नहीं चाहता। मैं आप से जरूरत से ज्यादह बात करना नहीं चाहता। मैं यह भी नहीं चाहता कि आप अन्त्यजों के साथ रोटी-बेटी-व्यवहार करें। यह तो आप की इच्छा की बात है। परन्तु अन्त्यजों को अस्पृश्य मानना इच्छा का विषय नहीं। जिसका स्पर्श करना चाहिये उसे अस्पृश्य मानना और जो अस्पृश्य है उसका स्पर्श करना, इच्छा का विषय नहीं है। यदि आप अन्त्यज भाइयों के दुःखों को महसूस न कर सके तो फिर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' किस तरह कह सकते हैं? उपनिषद् के रचयिता एक भी पाखण्डी नहीं थे। उन्होंने जगत को ब्रह्ममय कहा है। अतएव हम यदि अन्त्यज के दुःख से दुखी न होंगे तो हम अपने को जानवर से भी बदतर साबित करेंगे। हमारा धर्म पुकार पुकार कर कह रहा है कि जो जीव जानवर के अन्दर है वही हम सब लोगों के अन्दर है। और आज हमने उस धर्म की गर्दन मरोड़ दी है। मैं दया-भाव से, प्रेम-भाव से, भ्रातृ-भाव से कहिये, तो मातृ-भाव से अस्पृश्यता का नाश करना चाहता हूँ? यदि ऐसा करेंगे तो हिन्दू-धर्म की शोभा बढ़ जायगी। इसमें हिन्दू धर्म

की रक्षा भी आ जाती है। हेतु यह नहीं है कि अन्त्यजों का मुसलमान बनना या ईसाई होना रुकेगा। किसी भी धर्म का आधार उसके अनुयायियों की संख्या पर अवलंबित नहीं रहता। इस ख़याल से बढ़कर कि धर्म-बल का आधार संख्या है, एक भी पाखण्ड नहीं। यदि एक भी शख्स सच्चा हिन्दू रहे तो हिन्दू धर्म का नाश नहीं हो सकता; पर यदि करोड़ों हिन्दू पाखण्डी बन कर रहें तो उनसे हिन्दू-धर्म सुरक्षित नहीं, उसका विनाश ही निश्चित समझिये। मैंने जो यह कहा है कि हिन्दू-धर्म सुरक्षित रहेगा, उसका भाव यह है कि उस समय हम प्रयश्चित कर चुकेंगे, अनेक युगों का चढ़ा हुआ ऋण अदा कर चुकेंगे, और इस बेदारी से छूट सकेंगे।

"अस्पृश्या में घृणा-भाव स्पष्ट रूप से है। यह कोई यदि कहे कि अस्पृश्यता को मैं प्रेम-भाव से मानता हूँ तो मैं इस बात को कभी न मानूँगा। मुझे तो उसके अन्दर कहीं प्रेम-भाव प्रतीत नहीं होता। यदि प्रेम होतो हम उन्हें जूठन नहीं खिला-वेंगे। प्रेम हो तो हम उसी तरह उन्हें पूजेंगे जिस तरह माता पिता को पूजते हैं। प्रेम हो तो हम उनके लिए अपने से अच्छे कुवें, अच्छे मदरसे बना देंगे, उन्हें मन्दिरों में आने देंगे। ये सब प्रेम के चिह्न हैं। प्रेम अगणित सूर्यों से मिलकर बना है।

एक छोटा सा सूर्य जब छिपा नहीं रहना तब प्रेम क्यों छिपा रहने लगा? किसी माता को कहीं यह कहना पड़ता है कि मैं अपने बच्चे को चाहती हूँ? जिस बच्चे को बोलना नहीं आता वह माता के आँख के सामने देखता है और जब आँख से आँख मिल जाती है तब हम देखते हैं वे किसी आलौकिक चीज को देख रहे हैं।

"इतना कहने के बाद मैं समझता हूँ, कि कोई यह न मानेंगे कि दक्षिण अफ्रीक से आया एक सुधारक हिन्दू अपना

सुधार हिन्दू-धर्म में घुसा देना चाहता है। मैं कह सकता हूँ कि सुधार की अभिलाषा मुझे नहीं। मैं तो स्वार्थी आदमी हूँ और खुद ही अपने आनन्द में मगन रहता हूँ। मैं तो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता हूँ। इसलिए मैं तटस्थ, निश्चिंत बनकर बैठा हूँ। पर मैं चाहता हूँकि जिस आनन्द का अनुभव मैं कर रहा हूँ उसका उपभोग आप भी करें। इसीलिए मैं आप से कहता हूँ अन्त्यजों का स्पर्श करके, उनकी सेवा कर के, जो आनन्द प्राप्त होता है, उसका उपभोग आप कीजिये।"

१८—हिन्दू-धर्म की स्थिति

सनातनी हिन्दू का उपनाम धारण करके एक भाई लिखते है :—

"हिन्दू धर्म की आज की स्थिति जितनी विषम है, उतनी ही विचित्र भी है। कट्टर हिन्दू लोग दावा करते हैं कि वे शास्त्रों के वचनों के अनुसार ही चलते हैं। लेकिन मालूम नहीं होता कि कोई शास्त्र पढ़ता भी है या नहीं। यदि शास्त्रों का अध्ययन करे तो दो बात का स्पष्ट ज्ञान हो जाय।

१—आज धर्म में चुस्त माने जाने वाले प्रसिद्ध लोग भी शास्त्रों के अनुसार नहीं चलते हैं।

२—शास्त्र में जो लिखा है और जितना प्रमाण माना गया है, इसके अनुसार सोलह आना कोई नहीं चल सकता है और न कोई उस तरह चलना ही पसन्द करेगा।

साधारण जनता का राजमार्ग तो यही होता है कि जिस प्रकार शिष्ट लोगों का व्यवहार होता है उसी प्रकार उन्हें भी चलना चाहिए। शिष्ट लोगों को यह दिखाना पड़ता है कि वे

शास्त्रों के अनुकूल ही व्यवहार कर रहे हैं। अर्थात् सब जगह दंभ ही दंभ दिखाई देता है।

कौन सी रूढ़ि चुस्त सनातनी है, इसका कहीं पता ही नहीं चलता। सनातन रूढ़ि क्या हो सकती है, इसके सम्बन्ध में भी जुदे-जुदे प्रान्त की कल्पनायें निराली होती हैं। सामाजिक धर्माचार का समग्र रूप से अध्ययन करने की दृष्टि से कोई सारे देश में भ्रमण नहीं करता है, निरीक्षण नहीं करता है और न कहीं तुलनात्मक चर्चा ही होती है। सुधारक लोग जो टीकायें करते हैं, उसके मूल में अक्सर धार्मिकता के प्रति कोई आदर नहीं होता है। यही नहीं वस्तुस्थिति का अध्ययन भी पूरा नहीं है इसलिए उनकी टीकायें अंधी और निर्वीर्य होती हैं। आज यदि कोई हिन्दू-रिवाजों का कुछ अध्ययन करता है, तो वे योरोपियन अधिकारी और मिशनरी लोग ही हैं। हिन्दुओं में हर एक का खयाल है कि अपने प्रान्त का रिवाज ही रूढ़ हिन्दू-धर्म है। अस्पृश्यता-निवारण में कहीं या हिन्दू-संगठन में, अपने अपने प्रान्त की स्थिति का विचार करके ही नेतागण अपनी राय कायम करते हैं।

उसका एक ही उदाहरण बस होगा। आप कहते हैं कि अस्पृश्यता का निवारण करने के बाद अस्पृश्यों की स्थिति शूद्र की जैसी रहेगी। यहाँ तक तो ठीक है, लेकिन सब जगह शूद्रों की स्थिति भी कहाँ एक समान है? जिन प्रान्तों में ब्राह्मण लोग भी मांसाहार या मत्स्याहार करते हैं, वहाँ शूद्रों की एक प्रकार की स्थिति है। जहां ब्राह्मणेतर दूसरे सब वर्ण मांसमत्स्य का सेवन कर सकते हैं, वहाँ शूद्रों की स्थिति दूसरी ही है और जिन प्रान्तों में ब्राह्मणों के साथ वैश्यादि दूसरे वर्ण भी निरामिषभोजी हैं वहाँ की स्थिति और भी निराली है। आपने एक स्थान पर लिखा है कि शूद्रों के हाथ का पानी पीने में यदि

अन्य वर्णों को कोई एतराज नहीं है तो अन्त्यजों के हाथ का पानी पीने में भी उन्हें कोई एतराज नहीं होना चाहिए।

अब जहाँ कितने ही हिन्दू मांसाहार करनेवालों के हाथ का पानी न लेने का आग्रह रखते हैं वही तिरस्कार के बनिस्बत धार्मिक शौच का विचार ही प्रधान होता है। कुछ हिन्दुओं को सामान्य माँस खानेवालों के हाथ से शुद्ध जल ग्रहण करने में कोई एतराज नहीं होता है। और इसीलिए वे शूद्रों के हाथ का पानी पीने पर भी ईसाई मुसलमान········अन्त्यजों के हाथ से पानी नहीं लेते हैं। इनकी······ ····· इन लोगों का स्पर्श किया जा सकता है लेकिन उनके हाथ का पानी कैसे लिया जाय?

शायद आप यह नहीं जानते होंगे कि गुजरात के अन्त्यज मरे हुए गाय बैलों का माँस खाते हैं। यही नहीं, गोमांस बेचने वाले कसाइयों के यहाँ से गोमांस ले आकर खाने में भी कोई पाप नहीं समझते। इस हालत में कट्टर हिंदू के हृदय में यह ख्याल अवश्य ही होगा कि अन्य शूद्रों की तरह उनके हाथ का पानी कैसे पिया जाय? इसके सम्बन्ध में आप अपना वक्तव्य प्रकाशित करेंगे तो अच्छा होगा।

आपके उपदेशक और अन्त्यज सेवक अन्त्यजों को मिट्टी न खाने को समझाते हैं। मिट्टी खाने से रोग पैदा होते हैं, यही हमारी दलील है। अन्त्यज लोग कहते हैं कि इतने जमाने से खाते चले आरहे हैं, हमें रोग कहाँ हुये? हम लोगों के वह अनुकूल हो गया है। यदि अन्त्यज लोग मिट्टी और दूसरा भी गोमांस खाना छोड़ दें तो अस्पृश्यता निवारण का कार्य आसान हो जायगा और फिर उनके हाथ से पानी लेने में भी कोई एत-राज न होगा। गुजरात के अन्त्यजों की एक परिषद बुलाकर उनसे आप इतना करा सको और उन्हीं के कौम के कुछ नेता-

गण इतना सुधार एकदम कर देने के लिये कमर कस लें तो क्या अच्छा हो ?"

इस पत्र में केवल एक पक्ष की ही दलीलें पेश की गई हैं। लेखक की इस चिन्ता के लिये स्थान अवश्य है। हिन्दू-धर्म जीवित धर्म है; उसमें भरती और ओट आती ही रहती है। वह संसार के नियमों का ही अनुकरण करता है। मूलरूप से तो वह एक ही है, लेकिन वृक्ष रूप में वह विविध प्रकार का है। उस पर ऋतुओं का असर होता है। उसका वसन्त भी होता है और पतझड़ भी। उसकी शरद ऋतु भी होती है, और उष्ण ऋतु भी। वर्षा से भी वह वंचित नहीं रहता है। उसके लिये शास्त्र है और नहीं भी है। उसका एक ही पुस्तक पर आधार नहीं है। गीता सर्वमान्य है लेकिन वह केवल मार्ग-दर्शक है। रूढ़ियों पर उसका बहुत कम असर होना है। हिन्दू-धर्म गङ्गा का प्रवाह है। मूल में वह शुद्ध है। मार्ग में उसपर मैल चढ़ता है, फिर भी गङ्गा की प्रवृत्ति अन्त में पोषक है। उसी प्रकार हिन्दू-धर्म भी है। हर एक प्रान्त में वह प्रान्तीय स्वरूप धारण करता है, फिर भी इसमें एकता तो होती ही है। रूढ़ि-धर्म नहीं है। रूढ़ि में परिवर्तन होगा लेकिन धर्म-सूत्र तो वैसे के वैसे ही बने ही रहेंगे।

हिन्दू-धर्म की तपश्चर्या पर ही हिन्दू-धर्म की शुद्धता का आधार रहता है। जब कभी धर्म पर आफत आती है, तभी हिन्दू-धर्मी तपश्चर्या करता है, बुराई के कारण ढूंढ़ता है और उसका उपाय करता है। शास्त्रों में वृद्धि होती ही रहेगी। वेद, उपनिषद, स्मृत, इतिहासादि एक साथ एक ही समय में उत्पन्न नहीं हुए हैं लेकिन प्रसंग आने पर ही उन उन ग्रन्थों की उत्पत्ति हुई है। इसलिए उनमें विरोधाभास भी होता है। वे ग्रन्थ शाश्वत सत्य को नहीं बताते हैं। लेकिन अपने अपने समय में

शाश्वत सत्य का किस प्रकार अमल किया गया था यही वे बताते हैं। उस समय जैसा किया गया था वैसा दूसरे समय में भी करें तो निराशा के कूप में ही पड़ना होगा। एक समय यहाँ पशु-यज्ञ होता था इसीलिए क्या आज भी करेंगे? एक समय हम लोग माँसाहार करते थे, इसलिए क्या आज भी करेंगे? एक समय चोर के हाथ पैर काट डाले जाते थे, क्या आज भी उनके हाथ पैर काटेंगे? एक समय हमारे यहाँ एक स्त्री अनेक पति से विवाह करती थी क्या आज भी करेगी? एक समय हम लोग बाल-कन्या का दान करते थे तो क्या आज़ भी वही करेंगे? एक समय हम लोगों ने कुछ मनुष्यों की प्रजा को तिरस्कृत मानी थी इसलिए क्या आज भी उसे तिरस्कृत ही मानोंगे?

हिन्दू धर्म जड़ बनने से साफ इन्कार करता है। ज्ञान अनन्त है, सत्य की मर्यादा को किसी ने भी खोज नहीं पाई है। आत्मा की नयी नयी शोधें होती ही रहती हैं और होती ही रहेंगी। अनुभव के पाठ पढ़ते हुए हम लोग अनेक प्रकार के परिवर्तन करते रहेंगे। सत्य तो एक ही है लेकिन उसे सर्वांग में कौन देख सका है? वेद सत्य है, 'वेद' अनादि है लेकिन उसे सर्वांश में कौन जान सका है। वेद के नाम से जो आज पहचाने जाते हैं वे तो उसका करोड़वाँ भाग भी नहीं है। जो हम लोगों के पास है, उसका अर्थ भी सम्पूर्णतया कौन जानता है।

इतना बड़ा जंजाल होने के कारण ही तो ऋषियों ने हम लोगों को एक बहुत बड़ी बात सिखायी है 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'। ब्राह्मण का पृथक्करण करना असम्भव है। अपना पृथकरण कर देखना शक्य है और अपने आपको पहचाना कि सारे संसार को पहचान लिया। लेकिन अपने को पहचा-

नने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है और वह प्रयत्न भी निर्मल होना चाहिये। निर्मल हृदय के बिना प्रयत्न का निर्मल होना असम्भव है। यम नियमादि के पालन के बिना हृदय की निर्मलता भी सम्भव नहीं है। ईश्वर की कृपा के बिना यमादि का पालन कठिन है। श्रद्धा और भक्ति के बिना ईश्वर की कृपा प्राप्त नहीं हो सकती है। इसलिए तुलसीदासजी ने राम नाम की महिमा गायी है और भागवतकार ने द्वादश मंत्र सिखाया है। जो दिल लगाकर यह जप कर सकता है वही सनातनी हिन्दू है, बाकी और सब तो अखा की भाषा में अन्धेरा कुवाँ है।

अब लेखक की शंकाओं का विचार करें। योरोपियन लोग हमारे रीति रिवाजों को देखते अवश्य हैं लेकिन मैं उसे अध्ययन जैसा अच्छा नाम न दूँगा। वे तो टीका करने की दृष्टि से ही देखते हैं इसलिए उनके पास से मुझे धर्म प्राप्त न होगा।

भूतकाल में गोमांसादि खाने वालों का बहिष्कार भले ही उचित हो, आज तो वह अनुचित और असम्भव है। अस्पृश्य माने जाने वाले लोगों से गोमांसादि का त्याग करना तो यह केवल प्रेम ही से हो सकेगा, उनकी बुद्धि को जागृति करने पर ही होगा, उनका तिरस्कार करने से न होगा। उनकी बुरी आदतें छुड़ाने के प्रेममय प्रयोग हो ही रहे हैं। लेकिन खाद्या-खाद्य में ही हिन्दू-धर्म की परिसीमा कहीं थोड़े ही आज सी है। उससे अनन्तकोटि अति आवश्यक वस्तु अन्तराचरण हैं, सत्य अहिंसादि का सूक्ष्म पालन है। गोमांस का त्याग करने वाले दंभी मुनि के बनिस्बत गोमांस खाने वाला दयामय, सत्यमय, ईश्वर का यभ करके चलने वाला मनुष्य हजार गुना अधिक अच्छा हिन्दू है और जो सत्यवादी, सत्याचरणी गोमांसादि के आहार में हिंसा देख सका है और उसने उसका

त्याग किया है, जिसको जीवमात्र के प्रति दया है, उसे कोटिशः नमस्कार हो। उसने तो ईश्वर को देखा है, पहचाना है, वह परम भक्त है, वह जगत्गुरु है।

हिन्दू-धर्म की और अन्य धर्मों की आज परीक्षा हो रही है। सनातन सत्य एक ही है, ईश्वर भी एक ही। लेखक पाठक और हम सब मतमतान्तरों की मोहजाल में न फँसकर सत्य के सरल मार्ग का ही अनुसरण करेंगे, तभी हम लोग सनातनी हिन्दू रह सकेंगे। सनातनी माने जाने वाले बहुतेरे भटक रहे हैं। उसमें कौन जानता है किसका स्वीकार होगा ? रामनाम लेनेवाले बहुत से रह जायँगे और चुपचाप राम का काम करने वाले विरले लोग विजय-माल पहन लेंगे।

१९—मूर्तिपूजा

एक जिज्ञासु लिखते हैं :—

"१—जिस मूर्तिपूजा का आप समर्थन करते हैं, उनकी विधि क्या है ? क्या किसी महापुरुष की मूर्ति का दर्शन-मात्र पर्याप्त है अथवा उसे भोग (नैवेद्य) लगाना आदि भी ? जब मूर्ति भोजन नहीं कर सकती है तो उसके सामने भोजनादि रखना कहाँ तक सार्थक है।

मेरे पास मूर्तिपूजा की कोई विधि नहीं। प्रत्येक मनुष्य या समाज अपनी अपनी विधि निश्चित कर सकता है। यही होता भी है। विधि के द्वारा हम सब उस व्यक्ति या समाज की सभ्यता का दिग्दर्शन करवाते हैं। विधि में धर्म कर्म और रिवाज का प्राबल्य ज्यादा है। जैसे भक्त वैसे भगवान हैं। क्योंकि यह सब कल्पना ही है, लेकिन जब तक कल्पना काम करती है तब तक यह सच्ची सी वस्तु प्रस्तुत होती है।

दूसरा प्रश्न यों है।

"२—शरीरधारी मनुष्य में, फिर चाहे वह महापुरुष ही क्यों न हो, कुछ न कुछ दोष या त्रुटियाँ तो रहती ही हैं। अब यदि कोई मनुष्य ऐसे पुरुष की मूर्ति की उपासना करता है तो मेरे खयाल से उसके दोष भी उसमें आने लगेंगे। क्योंकि उपास्य के गुण दोष उपासक में आ जाते हैं। क्या इस प्रकार की उपासना आपको इष्ट है।

"३—जीवात्मा सहित शरीर को चेतन और जीवात्मा रहित शरीर को जड़ कहा जाता है। यदि यह कहें कि जड़ मूर्ति में भी सर्वव्यापक चेतन तत्व मौजूद है तो यह समझने वाला कि ईश्वर सर्वव्यापक है, उसे मूर्ति में ही सीमित क्यों समझे ? चक्रवर्ती राजा को कोई एक छोटे-से गाँव का ही राजा कहे तो क्या उसका अपमान नहीं होगा ?"

चक्रवर्ती के शासन को हम किसी एक गाँव तक ही महदूद नहीं रखते। परन्तु वह जैसे लाखों देहात का शासक है वैसे ही एक गाँव का भी सम्पूर्ण शासक है। और यह बिल्कुल संभव है कि एक देहाती को किसी दूसरे देहातों का खयाल तक न हो। भक्तशिरोमणि तुलसीदास के भगवान सुदर्शनचक्रधारी कृष्णचन्द्र नहीं, बल्कि धनुर्धारी सीतारमण रामचन्द्र थे। यही वजह है कि वह कृष्ण की मूर्त्ति में भी रामचन्द्र का ही दर्शन करते थे।

उनका चौथा प्रश्न यों है:—

"४—आपने कई बार लिखा है कि अमुक कर्य की सिद्धि के लिये लोगों को ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये, जैसे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता। तो फिर लोग वृक्ष को ईश्वरवत् समझकर पूजते हैं, वे अपने या दूसरे के लिये उसकी मिन्नत क्यों न मानें ?"

मिन्नत मानने में तटस्थता नहीं होती; उसमें राग होता है, अतः द्वेष भी हो सकता है। मेरी आदर्श प्रार्थना राग रहित है, इसलिये वह सर्वव्यापक और अचिन्त्य ईश्वर तत्व के प्रति की जाती है। परन्तु जो वृक्ष में भी भगवान की कल्पना करते हैं वे किसी स्वार्थ-पूर्ण प्रार्थना के बदले, हिन्दू मुस्लिम ऐक्य जैसी पारमार्थिक प्रार्थना भले ही कर सकते हैं।

अपने पांचवें प्रश्न में वह पूछते है:—

"५—श्रद्धा के साथ विवेक की आवश्यकता है या नहीं? विवेकरहित श्रद्धा अन्धविश्वास नहीं कहेंगे? अन्धश्रद्धा से ही तो संसार में बहुत से अनर्थ हुआ करते हैं।"

मेरी श्रद्धा तो ज्ञानमयी और विवेकपूर्ण है। जो बुद्धि का विषय है, वह श्रद्धा का विषय कदापि नहीं हो सकता। इसलिए अन्धश्रद्धा ही नहीं।

उनका छठा और अन्तिम प्रश्न यों है:—

६—"जिस प्रकार आप मनुष्य-मात्र के लिये सत्य और अहिंसा का एक ही मार्ग बतलाते हैं उसी प्रकार क्या आप उपासना का कोई एक मार्ग सब के लिये उचित नहीं समझते? फिर वह उपासना तथा प्रार्थना चाहे किसी भी भाषा में क्यों न की जाय।"

सत्य और अहिंसा सर्वव्यापक सिद्धान्त या तत्व हैं। उपासना मनुष्यकृत एक आवश्यक प्रचण्ड साधन है। इसलिये वह देश काल से परिमित है और उसमें विविध रहती है, रहना आवश्यक भी है। उसका अन्तिम निचोड़ तो एक ही है। जैसे कहा भी है कि, सब नदियों का पानी जिस तरह समुद्र में गिरता है, उसी तरह सब देवों को की गई बन्दना—नमस्कार मात्र केशव को पहुँचती है।

———

२०—बुद्धि बनाम श्रद्धा

'मूर्त्तिपूजा' शीर्षक लेख में मैंने लिखा था कि जहाँ बुद्धि निरुपाय हो जाती है, वहाँ श्रद्धा का आरम्भ होता है। अर्थात् श्रद्धा बुद्धि से परे है। इस पर से कई पाठकों को यह शक हुआ है कि यदि श्रद्धा बुद्धि से परे है तो वह अन्धी ही होनी चाहिये। मेरा मत इससे उलटा है। जो श्रद्धा अन्धी है वह श्रद्धा ही नहीं है। अगर कोई मनुष्य श्रद्धापूर्वक यह कहे कि आकाश में पुष्प होते हैं, तो उसकी बात उचित नहीं मानी जा सकती। करोड़ों मनुष्यों का प्रत्यक्ष अनुभव इससे उलटा है। आकाश-कुसुम को मानना श्रद्धा नहीं बल्कि घोर अज्ञान है। क्योंकि आकाश में पुष्प है या नहीं, यह बात बुद्धिगम्य है और बुद्धि द्वारा इसका (नास्तित्व) सिद्ध हो सकता है : इसके विपरीत जब हम यों कहते हैं कि ईश्वर तब हमारे कथन के नास्तित्व को कोई सिद्ध नहीं कर सकता। बुद्धिवाद से ईश्वर के अस्तित्व को असिद्ध करने का कोई भले कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, हर एक मनुष्य के दिल में इस विषय की शंका तो बनी ही रहेगी। उधर करोड़ों का अनुभव ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करता है। किसी भी मामिले में श्रद्धा की पुष्टि में अनुभूत ज्ञान का होना आवश्यक है क्योंकि आखिर श्रद्धा तो अनुभव पर अवलम्बित है और जिसे श्रद्धा है उसे कभी न कभी अनुभव होगा ही। परन्तु श्रद्धावान कभी अनुभव की आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि श्रद्धा में शंका को स्थान ही नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि श्रद्धामय मनुष्य जड़-रूप है या जड़ बन जाता है। जिसमें शुद्ध श्रद्धा है उसकी बुद्धि तेजस्वी रहती है। वह स्वयं अपनी बुद्धि से जान लेता है कि जो वस्तु बुद्धि से भी अधिक है—परे है—वह श्रद्धा है। जहाँ बुद्धि नहीं पहुँचती वहाँ श्रद्धा पहुँच जाती है।

बुद्धि के उत्पत्ति का स्थान मस्तिष्क है। श्रद्धा का हृदय और यह तो जगत् का अविच्छिन्न अनुभव है कि बुद्धिबल से हृदय बल सहस्त्रश: अधिक है। श्रद्धा से जहाज़ चलते हैं। श्रद्धा से मनुष्य पुरुषार्थ करता है। श्रद्धा से वह पहाड़ों—अचलों—को चला सकता है। श्रद्धावान को कोई परास्त नहीं कर सकता। बुद्धिमान को हमेशा पराजय का डर रहता है। बालक प्रह्लाद में बुद्धि की न्यूनता हो सकती थी, मगर उसकी श्रद्धा मेरु के समान अचल थी। श्रद्धा में विवाद को स्थान ही नहीं इसलिये एक ही श्रद्धा दूसरे काम नहीं आ सकती। एक मनुष्य श्रद्धा से दरिया पार हो जायगा, मगर दूसरा, जो अन्ध अनुकरण करेगा, अवश्य डूबेगा। इस कारण भगवान् कृष्ण ने गीता के १७ वें अध्याय में कहा है—योयच्छ्रद्धः स एव सः—जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बनता है।

तुलसीदास की श्रद्धा अलौकिक थी। उनकी श्रद्धा ने हिन्दू संसार को रामायण के समान ग्रन्थरत्न भेंट किया है। रामायण विद्वत्ता से पूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी भक्ति के प्रभाव के मुकाबले उसकी विद्वत्ता का कोई महत्व नहीं रहता; श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं। श्रद्धा से अन्तर्ज्ञान आत्मज्ञान की वृद्धि होती है, इसलिये अन्त:शुद्धि तो होती ही है। बाह्यज्ञान की सृष्टि से ज्ञान की वृद्धि होती है। परन्तु उसका अन्त:शुद्धि के साथ कार्यकारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अत्यन्त बुद्धिशाली लोग अत्यन्त चरित्रभ्रष्ठ पाये जाते हैं। मगर श्रद्धा के साथ चारित्रशून्यता का होना असम्भव है। इसपर से पाठक समझ सकते हैं कि एक बालक श्रद्धा की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है। और फिर भी उसकी बुद्धि मर्यादित रह सकती है। मनुष्य यह श्रद्धा कैसे प्राप्त करे? इसका उत्तर गीता में है। रामचरित मानस में है।

भक्ति से, सत्संगत से श्रद्धा प्राप्त होती है। जिन्हें-जिन्हें सत्संग का प्रसाद प्राप्त हुआ है उन्होंने

सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ?

वचनामृत का अनुभव अवश्य किया होगा।

२१—वृक्ष-पूजा

एक भाई लिखते हैं :—

"यहाँ के स्त्री-पुरुष और-और पूजाओं के साथ-साथ वृक्ष-पूजा भी किया करते हैं मगर जब मैंने समाज-सेवकों की शिक्षित स्त्रियों को भी वृक्ष-पजा करते देखा तो हैरान हो गया। परन्तु उन बहनों और कुछ मित्र का कहना है कि यदि यह पूजा किसी प्रकार की मान्यता के बिना की जाय तो इसे अन्ध-विवास नहीं कह सकते। हम तो पवित्र भाव से पूजा करते हैं। उन्होंने सावित्री और सत्यवान का उदाहरण दिया और कहा कि आज उनके यादगार का दिन है। इसलिये हम पूजा करते हैं। किन्तु उनकी यह दलील मेरे गले नहीं उतरी, अतः आपसे इस विषय पर प्रकाश डालने की प्रार्थना करता हूँ।"

यह प्रश्न अच्छा है। इसके गर्भ में मूर्तिपूजा का प्रश्न छिपा है। मैं मूर्तिपूजा का हामी भी हूँ और विरोधी भी। मूर्तिपूजा के कारण जो वहम पैदा हो जाते हैं, उनका खण्डन या विरोध करना आवश्यक है। शेष मूर्तिपूजा तो मनुष्य-मात्र किसी न किसी रूप में करता ही है।

पुस्तक-पूजा भी मूर्तिपूजा है। मन्दिरों और मस्जिदों की पूजा का भी यही अर्थ है। मगर इनमें कोई बुराई नहीं। शरीर-धारी इसके सिवा और कुछ कर ही नहीं सकता। इसलिये मेरे अपने खयाल से तो वृक्ष-पूजा में कुछ भी दोष नहीं है। उलटे

वह बड़ी अर्थपूर्ण और महाकाव्य कथा महत्व रखने वाली है। वृक्ष-पूजा का अर्थ बनस्पति-मात्र की पूजा है। बनस्पति में जो अद्भुत सौन्दर्य भरा पड़ा है उससे हमें ईश्वर की महिमा का कुछ कुछ ज्ञान होता है। बगैर बनस्पति के हम एक क्षण जी नहीं सकते। जिस मुल्क में वृक्षादि की कमी होती है वहाँ की वृक्ष-पूजा में तो गम्भीर अर्थ-शास्त्र निहित है।

अतः मेरे विचार में वृक्ष-पूजा के विरोध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वृक्ष-पूजा करनेवाली स्त्री पूजा करते समय किसी तत्वज्ञान का उपयोग नहीं करती। अगर उससे पूछा जाय कि वह पूजा क्यों करती है तो कोई कारण न बता सकेगी। एकमात्र श्रद्धा से उसकी पूजा का कारण है उसकी वह श्रद्धा बड़ी और पवित्र शक्ति है। इस शक्ति का नाश किसी भी हालत में इष्ट नहीं। हाँ, निजी स्वार्थ के कारण जो मिन्नतें ली जाती हैं, वे अवश्य ही दोषमय हैं। मिन्नत-मात्र सदोष है। वृक्षों की मिन्नत मानना जितना सदोष है गिर्जों और मस्जिदों की मिन्नतें भी उतनी ही दोषपूर्ण है। मिन्नत के साथ मूर्ति-पूजा का या वृक्ष पूजा का कोई भी अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। जनता को मिन्नतों के जाल में से छुड़ाना बहुत ही जरूरी है। परन्तु यह तो विषयान्तर हुआ। हम लोगों में वहम इतने जड़ पकड़ गये हैं कि सब कोई उनके जाल में फँस जाते हैं।

इसका कोई यह अर्थ न कर बैठे कि वृक्षादि की पूजा सब के लिये आवश्यक है। पूजा करने के लिये मैं वृक्षादि की पूजा करने का समर्थन नहीं करता; बल्कि इसलिये कि ईश्वर के प्रत्येक कृति के प्रति मेरे हृदय में सहज ही आदर है।

२२—मरणोत्तर भोज

मृत्यु होने पर जो भोज दिया जाता है उसे मैंने जंगली माना है। इस विषय पर एक सज्जन इस प्रकार अपने विचार बताते हैं :—

"आप सनातनी होने का दावा करते हैं, आप गीताजी व रामायण के पुजारी हैं, फिर भी यह समझ में नहीं आता कि आप मौत से बाद जो भोजनादि दिया जाता है उसे जंगली क्योंकर कहते हैं। शास्त्र तो कहते हैं कि मरण के पीछे ब्राह्मणों को खिलाने से प्रेत की सद्‌गति होती है, उन्हें सांत्वना मिलती है। इस बात में हम किसको सच मानें?"

मैं कई बार लिख चुका हूँ कि जो कुछ संस्कृत में लिख डाला गया है उन सब ही को धर्मवाक्य नहीं माना जा सकता है। उसी प्रकार धर्म-शास्त्र के नाम पर चलनेवाले मनुस्मृति आदि प्रमाण ग्रन्थों में जो आज हम पढ़ते हैं वह सब मूलकर्त्ता की कृति है, या हो तो वह सब आज अक्षरशः प्रमाण रूप हैं। ऐसा नहीं मानना चाहिये। मैं खुद तो कत्तई नहीं मानता। अमुक सिद्धान्त सनातन है। उन सिद्धान्तों को माननेवाला सनातनी कहा जावेगा। मगर सिद्धान्तों के ऊपर से जो जो आचार जिस-जिस युग के लिये गढ़े हों वे सब अन्य युग में भी सच्चे ही होने चाहिये, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। पहले स्थल, काल और संजोगों को लेकर आचार बदला करता है। पहले जमाने में मरण के बाद दिये जानेवाले भोज में चाहे कुछ अर्थ भले हो, इस ज़माने में हमारी बुद्धि उसे नहीं समझ सकती। जिस विषय में बुद्धि का प्रयोग किया जा सकता है वहाँ केवल श्रद्धा से नहीं चल सकते। जो बातें बुद्धि से परे हैं उन्हीं के लिये श्रद्धा का उपयोग है। इस विषय में तो हम बुद्धि से देख

सकते हैं कि मरण के पीछे भोज देने में धर्म नहीं है। अनुभव से हम जान सकते हैं कि दूसरे धर्मों में इस वस्तु को स्थान नहीं है। ऐसे भोज देने के लिये हिन्दू धर्म में संस्कृत श्लोकों के सिवाय हमारे पास और भी दूसरे सबल प्रमाण होने ही चाहिये। हिन्दू धर्मशास्त्र के अथवा यों कह सकते हैं कि सर्व धर्मशास्त्रों के सिद्धान्तों के साथ भी, ऐसे भोजनों का मेल ज़रा भी नहीं खाता। ऐसे भोजनों से होने वाली कहानियाँ हमें स्पष्ट नज़र आती हैं। ऐसे प्रत्यक्ष सबूत के सामने संस्कृत श्लोक क्या काम दे सकते हैं?

मरण के पीछे के भोज को बुद्धि भी क़बूल नहीं करती, हृदय भी क़बूल नहीं करता और न सभ्य देशों का अनुभव क़बूल करता है। ऐसे भोजनों को जंगली मानने के लिये इससे ज्यादा सबल कारण मेरे पास नहीं है। और किसी के पास आशा भी नहीं रखी जा सकती। प्राचीन सब बुरा ही है। ऐसा माननेवाले और उसे अच्छा माननेवाले दोनों भूल करते हैं। प्राचीन हो या अर्वाचीन, सब बातें बुद्धि की कसौटी के ऊपर कसी जानी चाहियें। जो बातें उस पर नहीं चढ़ सकतीं, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

२३—धर्म परिवर्तन या आत्मपरिवर्तन

[मि० आयरलैण्ड नामके कैंब्रिज मिशन के एक पादरी मित्र कुछ दिन पहले आश्रम में आये थे। जब अंतर्राष्ट्रीय बंधुत्व संघ की बैठक हुई थी तब वे उसमें हाजिर तो नहीं हो सके थे किन्तु उसका अहवाल इन्होंने यं० इ० में पढ़ा, धर्मपरिवर्तन के बारे में गांधी जी के लेख पढ़े और गान्धी जी को एक लम्बा सा

पत्र लिख कर कितनी ही एक शंकायें पेश की। उस पत्र का सारांश और गांधी जी का जवाब यहाँ दिये जाते हैं] :—

"१—'सभी सच्चे हैं' और सभी धर्मों में सत्य है—इन दो बातों में फ़र्क है। सत्य सभी धर्मों में होना है सही, मगर क्या वहम और भूत प्रेत पूजा के आधार पर बने धर्म और हिन्दू मुसलमान तथा ईसाई धर्म जैसे महाधर्म, से सभी अच्छे हैं? मुझे तो लगता है कि धर्म की बात दर किनार रक्खें, तौभी जंगली प्रजा भले के लिये भी हम उन्हें उनकी मौजूदा हालत में नहीं छोड़ सकते।

"२—इसलिए सच्ची बात तो यह है कि सभी धर्मों में सत्य है और उसके साथ असत्य भी मिला हुआ है। हम में से हर एक को प्रभु के बतलाये रास्ते पर असत्य को छांट कर सत्य के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करना चाहिये और अगर हम ऐसा कर सकें तो दूसरों को भी ऐसा करने का अधिकार होना चाहिये।

"३—आपने गुलाब के फूल का जो सुन्दर दृष्टान्त लिया है, वह मुझे बहुत ही पसन्द पड़ा है। जिस तरह गुलाब की सुगंध अपने आपही फैलती है, उसी भाँति हर एक आदमी की धार्मिकता की सुवास अपने आपही फैलनी चाहिये, सही। मगर इससे क्या यह सच साबित होता है कि किसी दूसरे तरीके से हम अपनी सुबास नहीं फैला सकते?

"४—ईसाई-धर्म-का अर्थ आज कुछ खास प्रथाएँ और मान्यतायें हो पड़ी हैं और ईसाई बनाना भी तबलीग या शुद्धि जैसी चीज़ माना जाता है। किन्तु अगर किसी आदमी को ईसू की जीवन लीला में सत्य और प्रेम का ऐसा दर्शन होवे, जैसा दूसरी किसी दूसरी जगह न हो और उस दर्शन के कारण वह ईसू का बंदा बन जाय तो वह क्या उसे प्रकट किये बिना रह सकता है

य। उसका लाभ लूटने के लिये औरों को भी न्यौते बिना कभी रह सकता है ?

"५—ईसू की बंदागिरी क़बूल करने से कुटुम्ब और परिजन से अलग होना ही पड़ता है और यह सब को अत्यन्त दुःखद लगता है किन्तु इस दुःख के कारण मुख्यतः वे कुटुम्बी जन ही होते हैं।

"ईसू तो सब की भव पीर हरने की, हमारा भार उठाने और अपने पंथ पर चलने की पुकार करते हैं। जिस तरह यह हो सके आप करें। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपना संघ बढ़ावें, अपने हकूम बढ़ाने के प्रयत्न करें। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि हम अपने आस पास में अपनी सुवास फैलावें। यह तो आप जानते ही हैं और हम भी जानते हैं कि ऐसा करने में हमें कितनी कम सफलता मिली है किन्तु इसमें तो शंकाही नहीं है कि ईसू हमसे इसी प्रकार का धर्म प्रचार करते हैं।"

बंधुत्वविचारकों की परिषद में तो मैंने स्पष्ट किया ही था कि मैं जगत के मुख्य धर्मों की बात करता हूँ और मेरे कहने का अर्थ यह था कि ये सभी मुख्य धर्म थोड़े बहुत सच्चे हैं किन्तु अपूर्ण तो सभी हैं इसलिये इस बात में और मि० आयर्लैंड के कथन में कोई भेद नहीं है। किन्तु मि० आयर्लैंड के पत्र से यह छाप पड़ती है कि धर्मपरिवर्तन के बारे में उनके और मेरे विचारों में तात्विक भेद है। यों सदोष तो रूपकमात्र होते हैं किन्तु हम गुलाब की सुवास के रूपक को जरा और आगे ले चलें। गुलाब अपना सुवास अनेक तरह से नहीं किन्तु एक ही तरह से फैलाता है। जिसे नाक ही न हो, उसे यह सुगंधि मिलने से रही। यह सुवास जीभ, कान, त्वचा से नहीं ही लिया जा सकता। इसके लिये केवल घ्राणेन्द्रिय ही चाहिये।

इसलिये आध्यात्मिकता की सुवास भी आध्यात्मिक इन्द्रिय के द्वारा ही ली जा सकती है। इसलिये सभी धर्मों ने इस इन्द्रिय को जागृत करने की आवश्यकता स्वीकार की है। यह जागृत एक तरह का पुनर्जन्म है। अतिशय आध्यात्मिकता वाला ऐसे आदमी के भी हृदय को बिना हिले डुले, बिना एक शब्द भी कहे, इशारा किये या कुछ भी किये स्पर्श कर सकता है। जिसे न उसने देखा हो, और जिसने भी उसे कभी न देखा हो। जब कि आध्यात्मिकता रहित किन्तु अत्यन्त वाक्पटु या वाणी पर बहुत ही अधिकार रखनेवाला प्रचारक उसके हृदय को स्पर्श नहीं कर सकेगा। इसलिये मेरी नम्र मान्यता है कि आजकल के बहुत से मिशनों का प्रयत्न व्यर्थ है, बल्कि बहुत बार तो हानिकारक भी होता है।

इसके अलावा इन मिशनों के मूल में एक दूसरी वस्तु भी गृहीत होती है वह यह कि मेरे मान्यता महज मेरे ही लिये नहीं बल्कि सारे संसार के लिये सच्ची है जब कि सच्ची बात यह है कि परमात्मा हजारों और लाखों अदृश्य और अज्ञात कलाओं से हमारे पास आया करता है। इसलिये मिशनरियों के प्रयत्न में सच्ची, नम्रता विनय नहीं होती--सच्ची विनय तो उसे कहते हैं जिसमें मानव-मर्यादाएँ सहज ही स्वीकार की जायँ और ईश्वर की अमर्याद शक्ति का भान होवे। मुझे यह ख्याल कभी नहीं होता कि मैं जंगली कहे जानेवाले लोगों से आध्यात्मिकता में जरूर ही बढ़ा चढ़ा हूँ और ऐसा खयाल खतरनाक भी होता है। आध्यात्मिकता तो इन्द्रियग्राह्य, पृथक्करणीय और सिद्ध की जाने लायक वस्तु नहीं है। अगर मुझमें यह वर्त्तमान हो तो दुनियाँ में ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे मुझसे छीन सके और उसका असर अपने समय पर हुए बिना नहीं रह सकता।

इससे उलटा वैद्यक या दूसरे शास्त्रों का ज्ञान ऐसी वस्तु है कि उनमें मैं दूसरे से अधिक जानकार हो सकता हूँ और मुझे अगर अपने मनुष्य भाइयों से प्रेम होवे तो उन्हें उसका लाभ दे सकता हूँ। किन्तु आध्यात्मिक बातें तो ईश्वर पर ही छोड़ूँगा और ऐसा करके ही अपने मानव-बन्धुओं तथा अपने बीच का संबंध, पवित्र, सच्चा और मर्यादित रखूँगा किन्तु इस दलील को और आगे बढ़ाने में मैं कोई सार नहीं देखता हूँ। यह वस्तु ही ऐसी है कि जिसका अन्तिम निर्णय दलील से हो ही नहीं सकता।

खासकर अपनी जो वृत्ति मैंने यहाँ प्रकट की है उसको ध्यान में लेते हुये, मेरी ओर से तो होही नहीं सकता।

२४—सत्य

सत्य शब्द का मूल्य सत् है। सत् के मानी हैं होना, सत्य अर्थात् होने का भाव। सिवा सत्य के और किसी चीज़ की हस्ती ही नहीं है। इसलिये परमेश्वर का सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है। चुनांचे, परमेश्वर सत्य है, कहने के बदले सत्य ही परमेश्वर है, यह कहना ज्यादह मौजूं है। राज चलाने वाले के बिना, सरदार के बिना, हमारा काम नहीं चलता, इसी से परमेश्वर—नाम ज्यादह प्रचलित है और रहेगा। पर विचार करने से तो सत्य ही सच्चा नाम मालूम होता है और यही पूर्ण अर्थ का सूचक भी है।

जहाँ सत्य है वहाँ ज्ञान—शुद्ध ज्ञान है ही। जहाँ सत्य नहीं वहाँ शुद्ध ज्ञान हो नहीं सकता, इसलिये ईश्वर नाम के साथ चित्‌ज्ञान शब्द जोड़ा गया है। जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ

आनन्द ही हो सकता है, शोक हो ही नहीं सकता और चूँकि सत्य शाश्वत है इसलिये आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण हम ईश्वर को सच्चिदानन्द के नाम से भी पहचानते हैं।

इस सत्य की आराधना के लिये ही हमारी हस्ती हो और इसी के लिये हमारी हर एक प्रवृत्ति हो, इसी के लिये हम हर-बार श्वासोच्छ्वास लें। ऐसा करना सीख जाने पर हमें बाकी नियम सहज ही हाथ लगेंगे और उनका पालन भी आसान हो जायगा, बगैर सत्य के किसी भी नियम का शुद्ध पालन अशक्य है।

आम तौर पर सत्य के मानी हम सच बोलना ही समझते हैं। लेकिन हमने तो सत्य शब्द का विशाल अर्थ में प्रयोग किया है। विचार में, वाणी में, और आचार में सत्य ही सत्य हो। इस सत्य को सम्पूर्णतया समझनेवाले को दुनिया में दूसरा कुछ भी जानना नहीं रहता, क्योंकि सारा ज्ञान इसमें सामाया है, इसे हम ऊपर देख चुके हैं। इसमें जो न समा सके वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है, तो उससे सच्चा आनन्द तो मिल ही कैसे सकता है? यदि हम इस कसौटी का प्रयोग करना सीख जायँ तो तुरन्त ही हमें पता चलने लगे कि कौन सी प्रवृत्ति करने योग्य है, और कौन सी त्याज्य, क्या देखने योग्य है, क्या नहीं, क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं

लेकिन यह सत्य जो पारस-मणि रूप है, कामधेनु—रूप है, कैसे मिले? इसका जवाब भगवान् ने दिया है—अभ्यास से और वैराग्य से। सत्य की ही लगन अभ्यास है; और उसके बिना दूसरी तमाम चीजों के लिये आत्यन्तिक उदासीनता, वैराग्य है। यह होते हुये भी हम देखा करेंगे कि एक का सत्य दूसरे का असत्य। इससे घबराने की कोई ज़रूरत नहीं। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है वहाँ भिन्न मालूम होने वाले सब सत्य एक ही

पेड़ के असंख्य भिन्न दीख पड़नेवाले पत्तों के समान हैं। परमेश्वर भी कहाँ हर आदमी को भिन्न नहीं मालूम होता? तो भी हम यह जानते हैं कि वह एक ही है। लेकिन सत्य ही परमेश्वर का नाम है, इसलिये जिसे जो सत्य लगे वैसा वह बरते तो उसमें दोष नहीं, यह नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है। यदि ऐसा करने में ग़लती होगी तो वह भी सुधर ही जायगी। क्योंकि सत्य की शोध के पीछे तपश्चर्या होती है, यानी स्वयं दुःख सहन करना होता है, उसके लिए मरना भी पड़ता है, इसलिए उसमें स्वार्थ की तो गंध तक नहीं होती। ऐसा निःस्वार्थ शोध करते हुये आज तक कोई ऐसा न हुआ जो आखिर तक ग़लत रास्ते गया हो। रास्ता भूलते ही ठोकर लगती है और फिर वह सीधे रास्ते पर चलने लगता है। इसीलिये सत्य की आराधना भक्ति है, और भक्ति तो 'सिर का सौदा है' अथवा वह हरि का मार्ग है, अतः उसमें कायरता की गुंजायश नहीं। उसमें हार जैसा कुछ है ही नहीं। वह तो 'मर कर जीने का मन्त्र है।'

× × ×

इस सिलसिले में हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, रामचन्द्र, इमामहसन, हुसेन, ईसा, सन्त वगैरह के चरित्रों का विचार कर लेना चाहिये और सब बालक, बड़े स्त्री-पुरुष को चलते, बोलते, खाते पीते, खेलते, मतलब हर काम करते हुए सत्य की रट लगाये रहनी चाहिए। ऐसा करते करते वे निर्दोष नींद लेने लग जायँ तो क्या ही अच्छा हो! यह सत्य रूपी परमेश्वर मेरे लिये तो रत्न-चिन्तामणि साबित हुआ है। हम सब के लिए हो।

२५—अहिंसा

सत्य का, अहिंसा का, मार्ग जितना सीधा है, उतना ही सँकड़ा भी है। तलवार की धार पर चलने के समान है। नट लोग जिस रस्सी पर एक निगाह रख कर चल सकते हैं, सत्य और अहिंसा की रस्सी इससे भी पतली है। ज़रा भी असावधानी हुई कि नीचे गिरे। प्रति पल साधना करने से ही उसके दर्शन हो सकते हैं।

लेकिन सत्य के सम्पूर्ण दर्शन तो देह द्वारा हो नहीं सकते, असम्भव है। उसकी तो केवल कल्पना ही की जा सकती है—क्षण-भंगुर देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार होना सम्भव नहीं। इसलिए आख़िर श्रद्धा का उपयोग तो करना ही होता है।

इसी से जिज्ञासु को अहिंसा मिली। मेरे रास्ते में जो मुसीबतें आवें, उन्हें मैं सहूँ या उनके लिये जिनका नाश करना पड़े उनका नाश करता जाऊँ और अपना रास्ता तय करूँ? जिज्ञासु के सामने यह सवाल खड़ा हुआ। उसने देखा कि अगर नाश करता चलता है तो वह रास्ता तय नहीं करता, बल्कि जहाँ था वहीं रहता है। अगर संकटों को सहता है तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य को वह खोज रहा है, वह बाहर नहीं पर अन्तर में, इसलिए जैसे-जैस नाश करता जाता है, वैसे-वैसे वह पिछड़ता जाता है; सत्य से दूर हटता जाता है।

चोर हमें सताते हैं। उनसे बचने के लिए हम उन्हें मारते हैं। उस वक्त वे भाग तो गये, पर दूसरी जगह जाकर छापा मारा। यह दूसरी जगह भी हमारी है, यों हम एक अंधेरी गली से जाकर टकराये। चोरों का उपद्रव बढ़ता गया। क्योंकि उन्होंने तो चोरी को कर्तव्य माना है। हम देख चुके हैं कि इससे अच्छा

यह है कि चोर का उपद्रव सह लिया जाय। ऐसा करने से चोर में समझ आवेगी। इतना सहन करने से हम देखेंगे कि चोर हमसे जुदा नहीं है; हमारे मन तो सब हमारे सगे हैं, रिश्तेदार हैं, मित्र हैं। उन्हें सज़ा नहीं की जा सकती। लेकिन अकेला उपद्रव सहते जाना भी बस नहीं होगा, इससे कायरता पैदा हो सकती। इससे हमने अपना एक दूसरा विशेष धर्म समझा। चोर यदि हमारे भाई-बन्द हैं, तो हमें उनमें वैसी भावना पैदा करनी चाहिए। अर्थात् हमें उन्हें अपनाने के लिए उपाय सोचने की तकलीफ़ उठानी चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख ही उठाना पड़ता है। अखण्ड धैर्य धारण करना सीखना पड़ता है और यदि ऐसा हुआ तो आख़िर चोर साहूकार बनता है। हमें सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। इस तरह हम जगत को मित्र बनाना सीखते हैं। ईश्वर की—सत्य की महिमा अधिकाधिक जान पड़ती है। संकट सहते हुए भी शान्ति और सुख में वृद्धि होती है। हमारा साहस—हिम्मत बढ़ती है। हम शाश्वत-आवश्यकता के भेद को अधिक समझने लगते हैं। कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार करना सीखते हैं। अभिमान दूर होता है। नम्रता बढ़ती है। परिग्रह सहज ही कम होता है और देह के अन्दर भरा हुआ मैल रोज कम होता जाता है।

आज हम जिस स्थूल वस्तु को देखते हैं वही यह अहिंसा नहीं है। किसी को कभी न मारना तो है ही। कुविचारमात्र हिंसा है। उतावलापन-जल्दीपन हिंसा है। मिथ्या-भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जिसकी दुनिया को जरूरत है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। लेकिन यों तो हम जो खाते हैं उसकी भी दुनिया को जरूरत है। जहाँ खड़े हैं वहाँ सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े होते हैं, वे घब-

राते हैं। वह जगह उनकी है। तो क्या आत्म-हत्या कर लें? यह भी ठीक नहीं। विचार में देह की सब तरह की लागलपट को छोड़ने से आखिर देह हमें छोड़ देगी। यह अमूर्छित स्वरूप ही सत्यनारायण है। इस प्रकार के दर्शन अधीर होने से नहीं हो सकते। देह हमारी नहीं है, यों समझकर हमें मिली हुई थाती के धरोहर के रूप में हम उसका जो उपयोग कर सकें सो करके अपना रास्ता तय करते जायँ।

मुझे लिखना तो था सरल, पर लिख गया कठिन। तो भी जिसने अहिंसा का थोड़ा भी विचार किया होगा उसे यह समझने में मुशकिल न आनी चाहिए।

इतना सब समझ लें कि अहिंसा के विना सत्य की खोज असम्भव है। अहिंसा और सत्य इतने ही ओत-प्रोत हैं, जितनी कि सिक्के की दोनों बाजू (Sides) या चिकनी चकरी के दोनों पहलू—उसमें कौन उलटा और कौन सीधा है? तो भी अहिंसा को हम साधन मानें, सत्य को साध्य। साधन हमारे हाथ की बात है, इसीसे अहिंसा परम धर्म कही गई और सत्य परमेश्वर हुआ। साधना की फिक्र करते रहेंगे तो साध्य के दर्श किसी न किसी दिन तो कर ही लेंगे। इतना निश्चय किया कि बेड़ा पार हुआ। हमारे मार्ग में चाहे जो संकट आवें, वाह्यदृष्टि से देखने से हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई पड़े, तथापि विश्वास को न डिगाते हुए हम एक ही मंत्र जपें—(जो) सत्य है वही है, वही एक परमेश्वर है। इसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग, एक ही साधन, अहिंसा है; उसे कभी न छोड़ूँगा। जिस सत्य रूप परमेश्वर के नाम यह प्रतिज्ञा की है उसके पालन का बल दे।

२६—ब्रह्मचर्य

हमारे व्रतों में तीसरा व्रत ब्रह्मचर्य का है। हक़ीकत तो यह है कि दूसरे सब व्रत एक सत्य के व्रत में से ही उत्पन्न होते हैं और उसी के लिए रहे हैं। जो मनुष्य सत्य का प्रण किये हुए है उसी की उपासना करता है, वह यदि किसी भी दूसरी चीज की अराधना करता है तो व्यभिचारी ठहरता है तो फिर विकार की अराधना क्यों कर की जा सकती है? जिसकी सारी प्रवृत्ति एक सत्य के दर्शन के लिए है वह सन्तान पैदा करने या गृहस्थी चलाने के काम में क्यों कर पड़ सकता है? भोग विलास द्वारा किसी को सत्य की प्राप्ति हुई हो, ऐसी एक भी मिसाल हमारे पास नहीं।

अहिंसा के पालन को लें तो उसका सम्पूर्ण पालन भी ब्रह्मचर्य के बिना अशक्य है। अहिंसा के मानी हैं, सर्वव्यापी प्रेम। पुरुष एक स्त्री को या स्त्री के एक पुरुष को अपना प्रेम अर्पण कर चुकने पर उसके पास दूसरे के लिए क्या रहा? इसका तो यही मतलब हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब पीछे।' पतिव्रता स्त्री, पुरुष के लिए और पत्नीव्रती पुरुष, स्त्री के लिए सर्वस्व होमने को तैयार होगा, यानी इससे यह ज़ाहिर है कि उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन हो ही नहीं सकता। वह सारी सृष्टि को अपना कुटुम्ब कभी बना ही नहीं सकता, क्योंकि उसके पास उसका अपना माना हुआ कुटुम्ब है या तैयार हो रहा है। जितनी उसमें वृद्धि होगी, सर्वव्यापी प्रेम में उतनी ही बाधा पड़ेगी। हम देखते हैं कि सारे जगत् में यही हो रहा है। इसलिये अहिंसा-व्रत का पालन करनेवाला विवाह कर नहीं सकता, विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या?

तो फिर जो विवाह कर चुके हैं, उनका क्या हो? उन्हें

सत्य किसी दिन नहीं मिलेगा ? वे कभी सर्वार्पण नहीं कर सकेंगे ? हमने इसका रास्ता निकाला ही है। विवाहित अविवाहित-सा बन जाय। इस दशा में इस-सा सुन्दर अनुभव और कोई मैंने किया नहीं। इस स्थिति का स्वाद जिसने चखा है, इसकी गवाही वही दे सकता है। आज तो इस प्रयोग की सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष का एक दूसरे को भाई बहन मानने लगना, सारी झंझटों से मुक्त होना है। संसार भर की सारी स्त्रिया बहनें हैं, माताएँ हैं, लड़कियाँ हैं, यह विचार ही मनुष्य को एक दम ऊँचा उठाने वाला है, बन्धन से मुक्त करने वाला है। इससे पति पत्नी कुछ खोते नहीं, उलटे अपनी पूँजी बढ़ाते हैं। कुटुम्ब वृद्धि करते हैं। विकार रूपी मैल को दूर करने से प्रेम भी बढ़ता है; विकार नष्ट होने से एक दूसरे की सेवा भी अधिक अच्छी हो सकती है। एक दूसरे के बीच कलह के अवसर कम होते हैं। जहाँ प्रेम स्वार्थी और एकांगी है, वहाँ कलह की गुँजायश ज्यादा है।

इस मुख्य बात का विचार करने के बाद और इसके हृदय में ठँस जाने पर ब्रह्मचर्य से होने वाले शारीरिक लाभ, वीर्यलाभ आदि बहुत गौण हो जाते हैं। इरादतन भोग-विलास के लिए वीर्य हानि करना और शरीर को निचोड़ना कैसी मूर्खता है। वीर्य का उपयोग तो दोनों की शारीरिक, मानसिक शक्ति को बढ़ाने में है। विषय भोग में उसका उपयोग करना उसका अति दुरुपयोग है, और इस कारण वह कई रोगों का मूल बन जाता है।

ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और काया से होना चाहिए। हर व्रत के लिए यही ठीक है। हमने गीता में पढ़ा है कि जो शरीर को काबू में रखता हुआ जान पड़ता है, पर मनसे विकार का पोषण किया करता है, वह मूढ़, मिथ्याचारी है। सब किसी

को इसका अनुभव होता है। मन को विकारपूर्ण रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करना हानिकर है। जहाँ मन है, वहाँ अन्त को शरीर घसीटाये बिना नहीं रहता। यहाँ एक भेद समझ लेना जरूरी है। मन को विकार-वश होने देना एक बात है, और मन का अपने आप अनिच्छा से बलात् विकार को प्राप्त होना या होते रहना दूसरी बात है, इस विकार में यदि हम सहायक न बनें तो आखिर जीत हमारी है। हम प्रतिपल यह अनुभव करते हैं कि शरीर तो काबू में रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिए शरीर को तुरन्त ही वश में करने की रोज़ कोशिश करने से हम अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं—कर चुकते हैं। यदि हम मन के अधीन हो जायँ तो शरीर और मन में विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचार का आरम्भ हो जाता है। पर कह सकते हैं कि जब तक मनोविकार को दबाते ही रहते हैं तब तक दोनों साथ-साथ चलते हैं।

इस ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन, लगभग अशक्य ही माना गया है। इसके कारण का पता लगने से मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ किया गया है। जननेन्द्रिय विकार के निरोध को ही ब्रह्मचर्य का पालन माना गया है। मेरी राय में यह अधूरी और खोटी व्याख्या है। विषयमात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। जो और-और इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर केवल एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है वह निष्फल प्रयत्न करता है, इसमें शक ही क्या है? कान से विकारकी बातें सुनना, आँख से विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु चखना हाथ से विकारों को भड़काने वाली चीज़ को छूना, और साथ ही जननेन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करना, यह तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने का प्रयत्न करने के समान हुआ। इसलिए जो जननेन्द्रिय को रोकने

का प्रयत्न करे, उसे पहले ही से प्रत्येक इन्द्रिय को उस-उस इन्द्रिय के विकारों से रोकने का निश्चय कर ही लिया होना चाहिये। मैंने सदा से यह अनुभव किया कि ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या से नुक़सान हुआ है। मेरा तो यह निश्चय मत है, और अनुभव है कि यदि हम सब इन्द्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास करें—रफ्त डालें तो जननेन्द्रिय को वश में करने का प्यत्न शीघ्र ही सफल हो सकता है, तभी उसमें सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसमें मुख्य स्वाद इन्द्रिय है। इसीलिए उसके संयम को हमने पृथक् स्थान दिया है। उसका अगली बार विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ को सब याद रक्खें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की—सत्य की शोध में चर्या, अर्थात् तत् सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थ से सर्वेन्द्रिय-संयम का विशेष अर्थ निकलता है। सिर्फ जननेन्द्रिय संयम के अधूरे अर्थ को तो हम भुला ही दें।

२७—अस्वाद

यह व्रत ब्रह्मचर्य से निकट सम्बन्ध रखने वाला है। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि यदि इस व्रत का भली भांति पालन किया जाय तो ब्रह्मचर्य—अर्थात् जननेन्द्रिय-संयम बिलकुल आसान हो जाय। पर आमतौर से इसे कोई भिन्न व्रत नहीं मानता, क्योंकि स्वाद को बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके हैं। इसी कारण इस व्रत को पृथक् स्थान नहीं मिला। यह तो मैंने अपने अनुभव की बात कही। वस्तुतः बात ऐसी हो या न हो, तो भी चूँकि हमने इस व्रत को पृथक् माना है, इसलिए स्वतन्त्र रीति से इसका विचार कर लेना उचित है।

अस्वाद के मानी हैं, स्वाद न करना। स्वाद अर्थात् रस—ज़ायका। जिस तरह दवाई खाते समय हम इस बात का विचार नहीं करते कि आया यह ज़ायकेदार है या नहीं, पर शरीर के लिए उसकी आवश्यकता समझ कर ही उसे योग्य मात्रा में खाते हैं; इसी तरह अन्न को भी समझना चाहिये। अन्न अर्थात् समस्त खाद्य पदार्थ—अतः इनमें दूध—फल का भी समावेश होता है। जैसे कम मात्रा में ली हुई दवाई असर नहीं करती या थोड़ा असर करती है, और ज्यादह लेने पर नुकसान पहुँचाती है, वैसे ही अन्न का भी है! इसलिए स्वाद की दृष्टि से किसी भी चीज़ को चखना व्रत का भङ्ग है। ज़ायकेदार चीज़ को ज्यादह खाने से तो सहज ही व्रत का भङ्ग होता है। इससे यह ज़ाहिर है कि किसी पदार्थ का स्वाद बढ़ने, बदलने या उसके अस्वाद को मिटाने की गरज़ से उसमें नमक वगैरह मिलाना व्रत का भङ्ग करना है। लेकिन यदि हम जानते हों कि अन्न में नमक की अमुक मात्रा में ज़रूरत है और इस लिए उसमें नमक छोड़ें, तो इससे व्रत का भङ्ग नहीं होता। शरीर-पोषण के लिए आवश्यक न होते हुए भी मन को धोखा देने के लिए आवश्यकता का आरोपण करके कोई चीज़ मिलाना स्पष्ट ही मिथ्याचार कहा जायगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर हमें पता चलेगा कि जो अनेक चीजें हम खाते हैं; वे शरीर-रक्षा के लिए जरूरी न होने से त्याज्य ठहरती हैं और यों जो सहज ही असंख्य चीज़ों का 'पेट छोड़ देता है, उसके समस्त विकारों का शमन हो जाता है। 'जो चाहे करावे', 'पेट चाण्डाल है', 'पेट कुई, मुँह सूई,' "पेट में पड़ा चारा तो कूदने लगा विचारा" 'जब आदमी के पेट में आती हैं रोटियाँ, फूली नहीं बदन में समाती हैं रोटियाँ।' ये सब वचन बहुत सारगर्भ हैं। इस विषय पर

इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रत की दृष्टि से खुराक की पसन्दगी लगभग नामुमकिन हो गई है। इधर बचपन ही से माँ-बाप झूठा प्यार करके अनेक प्रकार की ज़ायकेदार चीजें खिला पिला कर बालकों के शरीर को निकम्मा और जीभ को कुत्ती बना देते हैं। फलतः बड़े होने पर उनकी जीवन-यात्रा शरीर से रोगी और स्वाद की दृष्टि से महाविकारी पायी जाती है। इसके कड़ुवे फलों को हम पग-पग पर देखते हैं। अनेक तरह के ख़र्च करते हैं, वैद्य और डाक्टरों की सेवा उठाते हैं और शरीर तथा इन्द्रियों को वश में रखने के बदले उनके गुलाम बन कर अपङ्ग-सा जीवन बिताते हैं। एक अनुभवी वैद्य का कथन है कि उसने दुनिया में एक भी निरोग मनुष्य को नहीं देखा। थोड़ा भी स्वाद किया कि शरीर भ्रष्ट हुआ और तभी से उस शरीर के लिए उपवास की आवश्यकता पैदा हो गई।

इस विचार-धारा से कोई घबराये नहीं। अस्वाद-व्रत की भयङ्करता देख कर उसे छोड़ने की भी जरूरत नहीं। जब हम कोई व्रत लेते हैं, तो उसका यह मतलब नहीं कि तभी उसका सम्पूर्ण पालन करने लग जाते हैं। व्रत लेने का अर्थ है, उसका सम्पूर्ण पालन करने के लिए, मरते दम तक, मन, वचन और कर्म से, प्रामाणिक तथा दृढ़ प्रयत्न करना। कोई व्रत कठिन है, इसीलिए उसकी व्याख्या को शिथिल करके हम अपने आपको धोखा न दें। 'अपनी सुविधा के लिए आदर्श को नीचे गिराने में असत्य है, हमारा पतन है। स्वतन्त्र रीति से आदर्श को पहचान कर, उसके चाहे जितना कठिन होने पर भी, उसे पाने के लिए जी तोड़ प्रयत्न करने का नाम ही परम अर्थ है, पुरुषार्थ है' (पुरुषार्थ का अर्थ हम केवल नर-तक ही सीमित न रक्खें; मूलार्थ के अनुसार जो पुर यानी शरीर में रहता है, वह

पुरुष है; इस अर्थ के अनुसार पुरुषार्थ शब्द का उपयोग नर-नारी दोनों के लिये हो सकता है। जो तीनों कालों में महव्रतों का सम्पूर्ण पालन करने में समर्थ है, उसके लिए इस जगत में कुछ कार्य कर्त्तव्य नहीं है, वह भगवान है, मुक्त है। हम तो अल्प मुमुक्षु, सत्य का आग्रह रखनेवाले उसकी शोध करनेवाले प्राणी हैं। इसलिए गीता की भाषा में धीरे-धीरे, पर अतन्द्रित रहकर प्रयत्न करते चलें। ऐसा करने से किसी दिन प्रभु-प्रसादी के योग्य हो जायँगे और तब हमारे तमाम विकार भी भस्म हो जायँगे।

अस्वाद-व्रत के महत्व को समझ चुकने पर हमें उसके पालन का नये सिरे से प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए चौबीसों घण्टे खाने की ही चिन्ता करना आवश्यक नहीं है। सिर्फ सावधानी की—जागृति की बहुत ज्यादा जरूरत है, ऐसा करने से कुछ ही समय में हमें मालूम होने लगेगा कि हम कब और कहाँ स्वाद करते हैं। मालूम होने पर हमें चाहिये कि हम अपनी स्वाद-वृत्ति को दृढ़ता के साथ कम करें। इस दृष्टि से संयुक्तपाक—यदि वह अस्वादवृत्ति से किया जाय—बहुत मददगार है। उसमें हमें रोज-रोज इस बात का विचार नहीं करना पड़ता कि आज क्या पकावेंगे और क्या खावेंगे। जो कुछ बना है, और जो हमारे लिए त्याज्य नहीं है, उसे ईश्वर की कृपा समझ कर, मन में भी उसकी टीका न करते हुए, संतोषपूर्वक शरीर के लिए जितना आवश्यक हो, उतना ही खाकर हम उठ जायँ। ऐसा करने वाला सहज ही अस्वाद व्रत का पालन करता है। संयुक्त रसोई बनानेवाला हमारा बोझ हलका करते हैं—हमारे व्रतों के रक्षक बनते हैं। वे स्वाद कराने की दृष्टि से कुछ भी न पकावें, केवल समाज के शरीर-पोषण के लिए ही रसोई तैयार करें। वस्तुतः तो आदर्श

स्थिति वह है, जिसमें अग्नि का खर्च कम से कम या बिल्कुल न हो। सूर्यरूपी महा-अग्नि जो खाद्य पकाती है उसी से हमें अपने लिए खाद्य पदार्थ चुन लेने चाहिये। इस विचार-दृष्टि से यह साबित होता है कि मनुष्य प्राणी केवल फलाहारी है। लेकिन यहां इतना गहरा पैठने की ज़रूरत नहीं। यहाँ तो विचारना था कि अस्वाद व्रत क्या है, उसके मार्ग में कौन-सी कठिनाइयाँ हैं और नहीं हैं, तथा उसका ब्रह्मचर्य के साथ कितना अधिक निकट सम्बन्ध है। इतना ठीक-ठीक हृदयङ्गम हो जाने पर सब इस व्रत के सम्पूर्ण पालन का शुभ प्रयत्न करें।

२८—अस्तेय

अब हम अस्तेय व्रत का विचार करेंगे। यदि गम्भीर विचार करके देखें तो मालूम होगा कि सब व्रत सत्य और अहिंसा के अथवा सत्य के गर्भ में रहते हैं, और वे इस तरह बताये जा सकते हैं :—
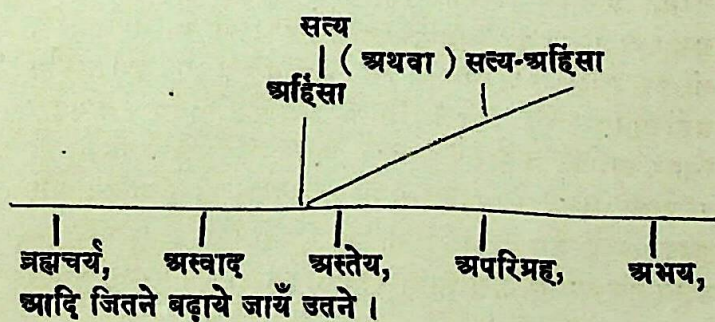
या तो सत्य में से अहिंसा को स्थापित करें या सत्य-अहिंसा की जोड़ी मानें। दोनों एक ही वस्तु हैं। तो भी मेरा मन पहले की ओर ही झुकता है। और अन्तिम स्थिति भी जोड़ी से—द्वन्द्व से अतीत है। परम सत्य अकेला खड़ा रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा एक साधन है।—अहिंसा क्या है, जानते हैं, पालन कठिन है। सत्य को अंशतः ही जानते हैं, सम्पूर्णतया जानना देही के लिए कठिन है। वैसे ही जैसे अहिंसा का "सम्पूर्ण पालन" देही के लिए कठिन है।

अस्तेय अर्थात् चोरी न करना। कोई यह न मानेगा कि चोरी करनेवाला सत्य को जानता और प्रेम-धर्म का पालन करता है; तो भी चोरी का अपराध तो हम सब, कम या ज्यादा मात्रा में, जान में या अजान में करते ही हैं। दूसरे की वस्तु का उसकी अनुमति के बिना लेना तो चोरी है ही; परन्तु "मनुष्य अपनी कही जानेवाली चीज़ भी चुराता है।" उदाहरणार्थ, किसी पिता का अपने बालकों के जाने बिना उन्हें मालूम न होने देने की इच्छा से, चुपचाप किसी चीज का खाना। यह कहा जा सकता है, कि आश्रम का वस्तु-भण्डार हम सब का है, परन्तु उसमें से जो चुपचाप गुड़ की डली भी लेता है, वह चोर है। एक बालक दूसरे बालक की कलम लेकर चोरी करता है। किसी के जानते हुए भी उसकी चीज़ को उसकी आज्ञा के बिना लेना चोरी है। यह समझकर कि वह किसी की भी नहीं है, किसी चीज़ को अपने पास रख लेने में भी चोरी है। अर्थात् राह में मिली हुई चीज़ के मालिक हम नहीं, बल्कि उस प्रदेश का राजा या व्यवस्थापक है। आश्रम के नज़दीक मिली हुई कोई भी चीज़ आश्रम के मन्त्री को सौंपी जानी चाहिये और यदि वह आश्रम की न हो तो मन्त्री उसे सिपाई को सौंप दे। इतने तक तो समझना साधारणतः सहज ही है। परन्तु अस्तेय

इससे बहुत आगे जाता है, 'जिस चीज़ के लेने की हमें आवश्यकता ना हो, उसे जिसके पास वह है, उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है।' ऐसी एक भी चीज़ न लेनी चाहिए, जिसकी ज़रूरत न हो। संसार में इस तरह की अधिक से अधिक चोरी खाद्य पदार्थों की होती है। मुझे अमुक फल की हाज़त—आवश्यकता—नहीं है, तो भी यदि मैं उसे लेता हूँ तो वह चोरी है। मनुष्य हमेशा इस बात को नहीं जानता कि उसकी आवश्यकता कितनी है और प्रायः हममें से सब अपनी आवश्यकताओं को, जितनी होनी चाहिए, उससे अधिक बढ़ा लेते हैं। विचार करने से हमें मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी आवश्यकताओं को कम कर सकते हैं। अस्तेय व्रत का पालन करने वाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताओं को कम करेगा। इस दुनिया की अधिकांश कंगालियत अस्तेय के भंग के कारण पैदा हुई है।

उक्त समस्त चोरियों को बाह्य या शारीरिक चोरी कह सकते हैं। इससे सूक्ष्म और आत्मा को नीचे गिरानेवाली, पतित बनाये रखनेवाली, चोरी मानसिक है। मन से किसी चीज़ को पाने की इच्छा करना या उस पर जूठी नज़र डालना चोरी है। बड़े बूढ़े या बालक का किसी उन्दा चीज़ को देखकर ललचा जाना मानसिक चोरी है। उपवास करने वाला शरीर से नहीं खाता, परन्तु दूसरे को खाते देख यदि वह मन ही मन स्वाद करने लगता है, तो चोरी करता है और उपवास को तोड़ता है। जो उपवासी उपवास छोड़ते समय खाने का ही विचार किया करता है, कह सकते हैं कि वह अस्तेय और उपवास दोनों का भंग करता है। अस्तेयव्रत का पालक भविष्य में प्राप्त होनेवाली चीज़ों के लिए हवाई क़िले नहीं बाँधा करता। बहुतेरी चोरियों का मूल कारण आपकी यह जूठी इच्छा ही मालूम

होगी। आज जो केवल विचार ही में है, कल उसे पाने के लिए हम भले-बुरे उपाय सोचने लग जायँगे। और जैसे चीज़ की वैसे ही विचार की भी चोरी होती है। अमुक उत्तम विचार अपने मन में उत्पन्न न होने पर भी, जो अहंकारवश उसे अपना बताता है, वह विचार की चोरी करता है। दुनिया के इतिहास में बहुतेरे विद्वानों ने भी ऐसी चोरी की है और आज भीहोती रहती है। मान लीजिये कि मैं आन्ध्र देश में एक नई किस्म का चर्खा देख आया, वैसा चर्खा मैंने आश्रम में बनवाया और उसे अपना आविष्कार कहना शुरू किया, तो स्पष्ट है कि मैंने इस तरह दूसरे के आविष्कार की चोरी की है। असत्याचरण तो किया ही है।

अतएव अस्तेय व्रत का पालन करने वाले को बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बहुत सादगी से रहना पड़ता है।

२६—अपरिग्रह

अपरिग्रह का सम्बन्ध अस्तेय से है। जो चीज मूल में चोरी की नहीं है, पर अनावश्यक है, उसका संग्रह करने से वह चोरी की चीज के समान हो जाती है। परिग्रह का मतलब संचय या इकट्ठा करना है। सत्य-शोधक, अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता, वह अपने लिए आवश्यक वस्तु रोज-रोज पैदा करता है, इसलिए यदि हम उस पर विश्वास रक्खें तो जानेंगे कि वह हमें हमारी जरूरत की चीजें रोज-रोज देता है, और देगा। औलिया भक्तों को यही अनुभव है। प्रतिदिन की आवश्यकता के अनुसार ही प्रतिदिन पैदा करने

दिन ईश्वरीय नियम को हम जानते नहीं, अथवा जानते हुए भी पालते नहीं, इससे जगत् में विषमता और तज्जन्य दुःखों का अनुभव करते हैं। धनवान् के घर में, उसके लिए अनावश्यक अनेक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, बिगड़ जाती हैं—जब कि उन्हीं चीजों के अभाव में करोड़ों दर-दर भटकते हैं, भूखों मरते हैं और जाड़े से ठिठुरते हैं। यदि सब अपनी आवश्यकतानुसार ही संग्रह करें तो किसी को तंगी न हो। और सब सन्तोष से रहें। आज तो दोनों तंगी का अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होने की कोशिश करता है, तो भी उसे सन्तोष नहीं रहता। कङ्गाल करोड़पति बनना चाहता है, कङ्गाल को पेटभर मिल जाने से ही सन्तोष होता नहीं पाया जाता। परन्तु कंगाल को पेटभर पाने का हक है और समाज का धर्म है वि वह उसे उतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने सन्तोष के खातिर पहले धनाढ्य को टहल करनी चाहिये। वह अपना अत्यन्त परिग्रह छोड़े तो कंगाल को पेट भर सहज ही मिलने लगे और दोनों पक्ष सन्तोष का सबक सीखें। आदर्श आत्यन्तिक परिग्रह तो उसी का होता है, जो मन और कर्म से दिगम्बर हो अर्थात् वह पक्षी की तरह गृहहीन, अन्नहीन और वस्त्रहीन रहकर विचरण करे। अन्न की उसे रोज आवश्यकता होगी, और भगवान् रोज उसे देंगे। पर इस अवधूत-स्थिति को तो विरले ही पा सकते हैं। हम तो सामान्य कोटि के सत्याग्रही ठहरे, जिज्ञासु ठहरे। हम आदर्श को ध्यान रखकर नित्य अपने परिग्रह की जाँच करते रहें और जैसे बने वैसे उसे घटाते रहें। सच्ची संस्कृति सुधार और सभ्यता का लक्षण परिग्रह की वृद्धि नहीं, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसकी कमी है। जैसे-जैसे परिग्रह कम करते हैं, वैसे-वैसे सच्चा सुख और सन्तोष बढ़ता है। सेवा-क्षमता बढ़ती है। इस दृष्टि

१७

से विचार करते और तद्नुसार बर्तते हुए हम देखेंगे कि हम आश्रम में बहुतेरा ऐसा संग्रह करते हैं, जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते · फलतः ऐसे अनावश्यक परिग्रह से हम पड़सी को चोरी करने के लिए ललचाते हैं। पर अभ्यास द्वारा आदमी 'अपनी आवश्यकताओं को कम कर सकता है। और जैसे-जैसे कम करता जाता है वैसे वैसे वह सुखी और सब तरह आरोग्यवान बनता है। केवल सत्य की—आत्मा की दृष्टि से विचारें तो शरीर भी परिग्रह है। भोगेच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण किया है, और उसे टिकाये रहते हैं। भोगेच्छा यदि अत्यन्त क्षीण हो जाय तो शरीर की आवश्यकता दूर हो। अर्थात्, मनुष्य को नया शरीर धारण करने की जरूरत न रहे। आत्मा सर्वव्यापक है, वह शरीर-रूपी पिंजड़े में क्यों बन्द रहे? इस पिंजड़े को कायम रखने के लिए अनर्थ क्यों करे? दूसरों की हत्या क्यों करे? इस विचार-श्रेणी द्वारा हम आत्यन्तिक त्याग को पहुँचते हैं। और जब तक शरीर है तब तक उसका उपयोग सेवा के लिए करना सीखते हैं और सो भी इस हदतक कि फिर सेवा ही उसकी सच्ची ख़ुराक बन जाती है। तब मनुष्य खाना पीना, सोना बैठना, जागना, सब कुछ सेवा के लिए ही करता है। इससे पैदा होनेवाला सुख सच्चा सुख है और इस तरह आचरण करनेवाला मनुष्य अन्त में सत्य के दर्शन करता है इस दृष्टि से हम सब, अपने परिग्रह का विचार कर लें। यहाँ यह याद रहे कि वस्तु की भाँति ही विचार का भी परिग्रह न होना चाहिए। जो मनुष्य अपने दिमाग़ में निरर्थक ज्ञान ठूंस रखता है, वह परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख रखते हैं, या ईश्वर की ओर नहीं ले जाते, वे इस परिग्रह में शुमार होते हैं और इसलिए त्याज्य हैं। तेरहवें अध्याय में भगवान् ने ज्ञान की ऐसी व्याख्या की है;

इस सिलसिले में उसका विचार कर लेना चाहिये। अमानत्व आदि को गिनाकर भगवान् ने कहा है कि इनके अतिरिक्त जो कुछ है, वह सब अज्ञान है। यदि यह वचन सच्चा हो, और यह सच तो है ही, तो आज जो बहुतेरा ज्ञान के नाम से संग्रह करते हैं वह अज्ञान ही है, और इसलिए उससे लाभ के बदले हानि होती है। दिमाग़ फिर जाता है और अन्त में खाली हो जाता है। सन्तोष बढ़ता है और अनर्थों की वृद्धि होती है। इस पर से कोई उद्यमहीनता को फलित न करे। हमारा प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिए। परन्तु वह प्रवृत्ति सात्विक हो, सत्य की ओर ले जाने वाली हो। जिसने सेवा-धर्म को स्वीकार किया है, वह एक क्षण भी कर्महीन नहीं रह सकता। यहां तो सारासार का विवेक सीखना है। सेवा-परायण को यह विवेक सहज प्राप्त है।

३०—अभय

भगवान् ने १६ वें अध्याय में दैवी सम्पदा का वर्णन करते हुए इसकी गणना प्रथम की है। यह श्लोक की संगति बैठाने के लिए किया है, या अभय को प्रथम स्थान मिलना चाहिये इसलिए, इस विवाद में मैं न पड़ूंगा, इस प्रकार का निर्णय करने की मुझमें योग्यता भी नहीं है। मेरी राय में तो यदि अभय को अनायास ही प्रथम स्थान मिला हो, तो भी वह उसके योग्य ही है। बिना अभय के दूसरी सम्पत्तियाँ नहीं मिल सकतीं। बिना अभय के सत्य की शोध कैसी? बिना अभय के अहिंसा का पालन कैसा? 'हरि का मारग है शूरों का नहिं कायर का काम, देखो।' सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव

है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक, शूर अर्थात् भयमुक्त, तलवार आदि से सज्जित नहीं। तलवार शौर्य की संज्ञा नहीं, भय की निशानी है।

अभय अर्थात् समस्त बाह्य भयों से मुक्ति—मौत का भय, धनमाल लुटने का भय, कुटुम्ब-परिवार-सम्बन्धी-भय, रोग का भय, शस्त्र प्रहार का भय, आबरू-इज्जत का भय, किसी को बुरा लगने का भय,—यों भय की वंशावली जितना बढ़ावें, बढ़ाई जा सकती है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि एक मौत का भय जीत लेने से सब भयों पर जीत मिल जाती है। लेकिन यह ठीक नहीं लगता। बहुतेरे (लोग) मौत का डर छोड़ते हैं; पर वे ही नाना प्रकार के दुखों से दूर भागते हैं; कोई स्वयं मरने को तैयार होते हैं, पर सगे-सम्बन्धियों का वियोग नहीं सह सकते। कुछ कंजूस इन सब को छोड़ देते हैं; पर संचित धन को छोड़ते घबड़ाते हैं। कुछ अपनी मानी हुई आबरू—प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अनेक अकार्य करने को तैयार होते और रहते हैं। कुछ दूसरे लोक-निन्दा के भय से, सीधा मार्ग जानते हुए भी, उसे ग्रहण करने में झिझकते हैं। पर सत्य-शोधक के लिए तो इन सब भयों को तिलाञ्जलि दिये ही छुटकारा है। हरिश्चन्द्र की तरह पामाल होने की उसकी तैयारी होनी चाहिये। हरिश्चन्द्र की कथा चाहे काल्पनिक हो, परन्तु चूँकि समस्त आत्मदर्शियों का यही अनुभव है, अतः इस कथा की कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथा की अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है और हम सब के लिए संग्रहणीय तथा माननीय है।

इस व्रत का सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्र से वही मुक्त हो सकता है, जिसे आत्म-साक्षात्कार हुआ हो। अभय अमूर्छस्थिति की पराकाष्ठा—हद है। निश्चय से, सतत

प्रयत्न से और आत्मा पर श्रद्धा बढ़ने से अभय की मात्रा बढ़ सकती है। मैं आरम्भ ही में यह कह चुका हूँ कि हमें वाह्य भयों से मुक्त होना है। अन्तर में जो शत्रु वास करते है, उनसे तो डर कर ही चलना है। काम, क्रोध आदि का भय सच्चा भय है। इन्हें जीत लें तो वाह्य भयों का उपद्रव अपने आप मिट जाय। भय मात्र देह के कारण हैं। देह-सम्बन्धी रोग—आसक्ति—दूर हो तो अभय सहज ही प्राप्त हो। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें पता लगेगा कि भयमात्र हमारी कल्पना की सृष्टि है। धन में से, कुटुम्ब में से, शरीरी में से, 'ममत्व' को दूर कर देने पर भय कहाँ रह जाता है ? तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' यह रामवाण वचन है। कुटुम्ब, धन, देह जैसे के तैसे रहेंगे, पर उनके सम्बन्ध की अपनी कल्पना हमें बदल देनी होगी। ये 'हमारे' नहीं, 'मेरे' नहीं ईश्वर के हैं; मैं भी उसी का हूँ, मेरा अपना इस जगत् में कुछ भी नहीं है, तो फिर मुझे भय किसका हो सकता है ? इसी से उपनिषद्कार ने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे माँगो।' अर्थात् हम उसके मालिक न रह कर केवल रक्षक बनें। जिसकी ओर से हम रक्षा करते हैं वह उसकी रक्षा के लिए आवश्यक शक्ति और सामग्री हमें देगा। यों यदि हम, स्वामी न बन कर सेवक बन, शून्यवत् रहें, तो सहज ही समस्त भयों को जीत लें; सहज ही शान्ति प्राप्त करें और सत्य नारायण के दर्शन करें।

३१—अस्पृश्यता-निवारण

यह व्रत भी अस्वाद व्रत की तरह नया है, और कुछ विचित्र भी है। जितना विचित्र है, उससे अधिक आवश्यक है। अस्पृश्यता अर्थात् छुआछूत। अखा भगत ने ठीक ही

कहा है—'अभड़छेट अदकेरूं अंग'—अर्थात् छुआछूत मैल है—विष्टा है। यह जहाँ तहाँ धर्म में धर्म के नाम से, या धर्म के बहाने विघ्न डाला ही करती है, और धर्म को कलुषित करती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है, तो अस्पृश्य माने जाते हैं, वैसे ही मृत देह भी—पर वह मान और करुणा का पात्र है। मृत देह को छूकर, तेल मलकर, अथवा हजामत बनाकर नहाते हैं, सो केवल आरोग्य की दृष्टि से। मृत देह को छूकर या तेल मल कर अथवा मलवाकर न नहाने वाला गन्दा भले कहा जाय, वह पातकी नहीं, पापी नहीं। यों तो माता बच्चे का मैला उठाकर जब तक स्नान न करे अथवा हाथ पैर न धोवे तब तक भले अस्पृश्य हो, पर यदि बच्चा खेल में इसे छू ले तो न वह अस्पृश्य बनता है, न उसकी आत्मा मलिन होती है। परन्तु जो तिरस्कार के कारण भंगी, चमार, ढेढ़ आदि नामों से पहचाना जाता है, वह तो जन्म से अस्पृश्य माना जाता है। फिर भले ही उसने वर्षों तक सैकड़ों साबुनों से शरीर धोया हो, वैष्णव की पोशाक पहनी हो, माला कठी धारण की हो, रोज गीता का पाठ करता हो, और लेखन-व्यवसायी हो, तो भी वह अस्पृश्य है। जो धर्म इसे मानता या तदनुसार बरसता है, वह धर्म नहीं, अधर्म है, और नाश के योग्य है। हम अस्पृश्यता-निवारण को व्रत का स्थान देकर यह मानते हैं कि अस्पृश्यता हिंदूधर्म का अङ्ग नहीं है, यही नहीं, वह हिन्दूधर्म में घुसी हुई सड़न है, बहम है, पाप है, और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है;—उसका परम कर्त्तव्य है। इसलिए जो उसे पाप मानता है, वह उसका प्रायश्चित करे, और कुछ नहीं तो प्रायश्चित के रूप में ही, धर्म समझकर, समझदार हिन्दू प्रत्येक अस्पृश्य माने जाने वाले भाई-बहन को अपनावे, उसका प्रेम-पूर्वक सेवा भाव से स्पर्श

करे; स्पर्श करके अपने को पवित्र हुआ माने, अस्पृश्य के दुःखों को दूर करे। बरसों से वह कुचला गया है, इसलिए उसमें अज्ञान आदि जो दोष घुस गये हैं, उन्हें धैर्यपूर्वक दूर करने में उसकी मदद करे, और दूसरे हिन्दू को भी ऐसा ही करने के लिए मनावे, प्रेरणा करे। इस दृष्टि से अस्पृश्यता का विचार करते हुए उसे मिटाने में जो राजनैतिक या ऐहिक परिणाम रहे हैं, उन्हें व्रतधारी तुच्छ मानेगा। वे या वैसे परिणाम आवें या न आवें तो भी अस्पृश्यता-निवारण को व्रत समझ कर चलनेवाला अस्पृश्य माने जाने वाले को धर्म समझ कर अपनावेगा। सत्यादि का आचरण करते हुए हमें ऐहिक परिणामों का विचार न करना चाहिये। व्रतधारी के लिये सत्याचरण एक युक्ति नहीं, वह तो उसकी देह के साथ जुड़ी हुई वस्तु है—उसका स्वभाव है। व्रतधारी के लिए अस्पृश्यता निवारण भी ऐसी ही वस्तु है। अस्पृश्यता का यह महत्व समझ में आजाने के बाद हमें पता चलेगा कि यह सड़न केवल ढेढ़-भंगी कहे जानेवालों के सम्बन्ध में ही दाखिल नहीं हुई है। सड़न का स्वभाव है कि पहले राई के दाने की तरह मालूम होती है, बाद में पहाड़ का रूप धारण करती है, और अन्त में जिसमें प्रवेश करती है, उसका नाश करके ही रहती है। यही हालत अस्पृश्यता की है। छूआछूत की यही भावना विधर्मी के लिए है, सम्प्रदायी के लिए है, एक ही सम्प्रदाय में भी घुस गई है। और सो भी यहाँ तक कि, कुछ लोग तो अस्पृश्यता पालते-पालते पृथ्वी पर भार-रूप बन गये हैं। अपनी ही साल-संभाल करते-करते, अपने ही लाड़-लड़ाते लड़ाते, धोते, खाते-पीते उन्हें फुर्सत नहीं मिलती—ईश्वर के बहाने ईश्वर को भूल कर अपने आपको पूजने लगे हैं। इसलिए अस्पृश्यता-निवारण करनेवाला ढेढ़-भंगी को अपना कर ही सन्तोष नहीं मानेगा।

वरन् जब तक वह जीवमात्र को अपने में नहीं देखता और अपने को जीवमात्र में नहीं होम देता, तब तक वह शान्त होगा ही नहीं। अस्पृश्यता मिटाने का मतलब है जगत मात्र के साथ मैत्री रखना, उसका सेवक बनना। इस दृष्टि से अस्पृश्यता-निवारण अहिंसा की जोड़ी बन जाता है, और वस्तुतः वह है भी। अहिंसा अर्थात् जीवमात्र के लिए पूर्ण प्रेम। अस्पृश्यता-निवारण का भी यही अर्थ है। जीवमात्र के साथ का भेद मिटाना ही अश्पृश्यता-निवारण है। इस विचार के अनुसार तो अस्पृश्यता का दोष कम या ज्यादा अंशों में जगत् भर में व्यापक है। पर यहाँ हमने हिन्दू धर्म के विकार के रूप में ही उसका विचार किया है; क्योंकि हिन्दू धर्म में उसने धर्म का स्थान ले लिया है, और धर्म के बहाने लाखों करोड़ों की हालत गुलामों जैसी बना डाली है।

३२—शारीरिक श्रम

'टाल्स्टाय' के 'उद्योग और आलस्य' नामक एक निबन्ध को पढ़ने के बाद, यह बात पहली बार मुझे हृदयंगम हुई कि मनुष्य-मात्र के लिए शारीरिक श्रम अनिवार्य है। इस बात को इतनी स्पष्टता-पूर्वक जानने से पहले ही मैं रस्किन का 'अन्टु दिस लॉस्ट'—'सर्वोदय' पढ़कर तुरन्त ही इसके अनुसार आचरण करने लग गया था। 'शारीरिक श्रम' अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड लेबर' का अनुवाद है। 'ब्रेड लेबर' का शाब्दिक अर्थ रोटी (के लिए) मजदूरी है। रोटी के लिए प्रत्येक मनुष्य को मजदूरी करनी चाहिए—शरीर से मेहनत करनी चाहिए, यह ईश्वरीय नियम है। इस नियम के मूल शोधक टाल्स्टाय नहीं, उनकी अपेक्षा कहीं

अपरिचित रूसी लेखक टी० एम० बोण्डारेफ हैं। टाल्स्टाय ने इस नियम का व्यापक प्रचार किया और इसे अपनाया। मुझे इस नियम के दर्शन भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में हुए हैं। अयज्ञ (यज्ञ न करनेवाले) के लिए गीता का यह कठिन शाप है कि बिना यज्ञ के खानेवाला चोरी का अन्न खाता है। यहाँ यज्ञ का अर्थ शारीरिक श्रम या 'रोटी-मजूरी' ही उपयुक्त मालूम होता है। और मेरी राय में यही सम्भव भी है। अस्तु, यह चाहे जो हो, हमारे इस व्रत की यही उत्पत्ति है। बुद्धि भी हमें इसी वस्तु की ओर ले जाती है। जो मज़दूरी नहीं करता, उसे खाने का भी क्या अधिकार है ? बाइबिल का कथन है:—'तू अपनी रोटी अपना पसीना बहाकर कमा और खा।' करोड़पति भी, यदि वह अपने पलंग पर लेटा रहे और नौकर उसे खाना खिलावें तभी खाये, तो इस तरह अधिक समय तक वह खा नहीं सकेगा, इसमें उसे कोई मज़ा न आवेगा। यही वजह है कि ऐसे लोग व्यायामादि करके भूख पैदा करते और अपने ही हाथ तथा मुँह हिलाकर खाते हैं। इस तरह यदि किसी न किसी तरह अमीर ग़रीब सबको शारीरिक श्रम करना ही पड़ता है, तो फिर हर एक रोटी पैदा करने के लिए ही मेहनत क्यों न करे ? यह सवाल सहज ही खड़ा होता है। किसान को हवा खाने या कसरत करने की सलाह कोई नहीं देता, और दुनिया के नब्बे फी सदी से भी ज्यादा लोगों की गुजर-बसर खेती से होती है। इसका अनुकरण दुनिया के शेष दस फी सदी लोग करें तो संसार में कितना सुख, कितनी शान्ति और कितना आरोग्य फैले ! और खेती के साथ बुद्धि का योग होने पर खेती सम्बन्धी ही अड़चनें सहज ही दूर हो जाँय। एवं यदि शारीरिक श्रम के इस निरपवाद नियम का सब कोई सम्मान करें तो ऊँच-नीच का भेद भी दूर हो जाय। आजकल तो वर्ण-व्यवस्था

में भी ऊँच नीच की भावना बद्धमूल हो गई है, जहाँ वस्तुतः इसकी गन्ध तक न थी। मालिक और मजदूरों का भेद सर्वव्यापी हो गया है, और गरीब धनवान की ईर्ष्या करते हैं। यदि हर आदमी अपनी रोटी के लिए आप मेहनत करने लगे तो ऊँच-नीच का भेद मिट जाय, और तब जो धनिक वर्ग रहा भी तो वह अपने को मालिक नहीं, बल्कि उस धन का रक्षक या ट्रस्टी मात्र मानेगा और उसका मुख्य उपयोग लोक-सेवा के कामों में ही करेगा। जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है; ब्रह्मचर्य को स्वाभाविक बनाना है, उसके लिए तो शारीरिक श्रम रामबाण का काम देता है। वस्तुतः तो यह मेहनत खेती ही है। परन्तु आज की तो हालत ही ऐसी है कि सब इसे नहीं कर सकते। अतएव खेती के आदर्श को आँखों के सामने रखकर मनुष्य खेती के बदले में भले दूसरी कोई मजदूरी करे —अर्थात् कताई, बुनाई, बढ़ई-गीरी, लुहार आदि आदि काम। हर एक को अपना भंगी तो बनना चाहिए। खाने वाले के लिए मल-त्याग अनिवार्य है। मल-त्याग करने वाला ही अपने मल को गाड़े—यही उत्तम तरीका है। ऐसा हो सके तो सब कुटुम्ब अपना कर्त्तव्य करने लगें। मुझे तो वर्षों पहले से यह अनुभव होता रहा है कि जहाँ-जहाँ भंगी का पेशा जुदा माना गया है वहाँ कोई महादोष घुस गया है। इस आवश्यक और आरोग्य-पोषक कार्य को, सबसे पहले किसने हलके से हलका माना होगा, इतिहास से हमें इसका पता नहीं चलता। जिस किसी ने भी माना हो, यह तो निश्चय है कि उसने हमारा उपकार नहीं किया। यह भावना कि हम सब भंगी ही हैं, बचपन से ही हमारे दिलों में ठँस जानी चाहिये। इसे ठँसाने का सहज और सीधा उपाय यह है कि जो समझे हैं, वे शारीरिक श्रम का

आरम्भ पाखाने की सफाई से करें। इस तरह ज्ञानपूर्वक आचरण करने वाला उसी क्षण से धर्म को उसके भिन्न और सच्चे स्वरूप में समझने लगेगा। बालक, बूढ़े और रोग के कारण अपंग स्त्री-पुरुषों के मेहनत न करने को कोई अपवाद न समझे। बालक का समावेश माता में हो जाता है। यदि नियम का भङ्ग न हो तो बूढ़े अपंग न बनें और रोग तो हो ही क्यों ?"

३३—सर्व-धर्म-समभाव

हमारे व्रतों में जिसे हम सहिष्णुता के नाम से पहचानते हैं उस व्रत का यह नया नाम रक्खा है। सहिष्णुता अङ्गरेजी शब्द 'टोलरेशन' का अनुवाद है। यह मुझे पसन्द नहीं पड़ा था। परंतु दूसरा नाम समझता न था। काका साहब को भी यह पसंद न था। उन्होंने 'सर्व-धर्म-आदर' शब्द सुझाया, मुझे यह भी पसन्द न आया। दूसरे धर्मों को सहने में उनकी न्यूनता मान ली जाती है। आदर में मेहरबानी का भाव आता है। अहिंसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है। अहिंसा की दृष्टि से आदर और सहिष्णुता पर्याप्त नहीं हैं। दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखने में मूलतः अपने धर्म की अपूर्णता की स्वीकृति भी आ जाती है। और सत्य की आराधना, अहिंसा की कसौटी तो यही सिखावेगी। यदि हमने सम्पूर्ण सत्य देखा हो तो फिर सत्य का आग्रह ही क्या है ? तब तो हम परमेश्वर ही हुए, क्योंकि हमारी भावानुसार तो सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्य को पहचानते तो नहीं, इसी से उसका आग्रह रखते हैं। इसी कारण पुरुषार्थ की गुँजाइश भी है। इसमें हमारी अपूर्णता की स्वीकृति भी है। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण हैं। स्वतन्त्र धर्म संपूर्ण

है और हमने इसे देखा नहीं है, जैसे कि ईश्वर को नहीं देखा। हमारा मानाहुआ धर्म अपूर्ण है, इसी से उसमें नित्य हेर-फेर होते ही रहते हैं और होते रहेंगे। ऐसा होने पर ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं—सत्य की ओर, ईश्वर की ओर रोज़-बरोज़ आगे बढ़ सकते हैं और यदि मनुष्य-कल्पित सब धर्मों को अपूर्ण मानें तो फिर किसी को ऊँच नीच मानने की जरूरत नहीं रहती। सब अच्छे हैं, पर सब अपूर्ण हैं, इसलिए दोष के पात्र हैं। समभाव रखते हुए भी दोष देख सकते हैं। हम अपने दोषों को भी देखें पर दोनों के कारण उसे छोड़ें नही, दोषों को दूर करें। इस तरह समभाव रखने से दूसरे धर्मों का जो कुछ ग्राह्य प्रतीत हो उसे अपने धर्म में मिलाते हुए संकोच नहीं होता; यही नहीं, बल्कि ऐसा करने से धर्म प्राप्त होता है।

तब सवाल यह होता है कि बहुसंख्यक धर्मों की जरूरत क्या है? हम जानते हैं, धर्म अनेक हैं। आत्मा एक है, पर मनुष्य देह असंख्य है। देह की असंख्यता टाली नहीं टलती तिस पर भी आत्मा के ऐक्य को हम जान सकते हैं। धर्म का मूल एक है, जैसे वृक्ष का; पर उसके पत्ते असंख्य हैं। धर्म ईश्वरदत्त हैं परन्तु मनुष्य-कल्पित और मनुष्य द्वारा प्रचारित होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वर धर्म अगम्य, मनुष्य उसे भाषाबद्ध करता है। मनुष्य ही उसका अर्थ करता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय? अपनी-अपनी दृष्टि से, जब तक वह दृष्टि रहे; सब सच्चे हैं, पर सब से खोटा होना भी असम्भव नहीं इसलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिये। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती, उलटे अपने धर्म के प्रति का प्रेम अन्ध न रह कर ज्ञान-मय बनता है—और

फलतः अधिक सात्विक तथा निर्मल भी। सब धर्मों के लिए समभाव प्राप्त होने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं। धर्मान्धता और दिव्य दर्शन-बीच उत्तर दक्षिण का अन्तर है, धर्म-ज्ञान के होते ही ये अन्तराय मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न होता है। इस समभाव का अभ्यास करते हुए हम अपने धर्म को अधिक पहचानने लगे। लेकिन इससे धर्म अधर्म का भेद दूर नहीं होता। यहाँ तो उन्हीं धर्मों की चर्चा है, जो धर्म नाम से पुकारे जाते हैं। इन सब धर्मों के मूल सिद्धान्त एक ही हैं। सब में सन्त स्त्री पुरुष हो गये हैं—आज भी मौजूद हैं। अतः धर्मों के प्रति के समभाव में और धर्मियों—मनुष्यों—के प्रति के समभाव में कुछ भेद है। मनुष्य मात्र के—दुष्ट और श्रेष्ठ धर्मी और अधर्मी के—प्रति समभाव की अपेक्षा है; परन्तु अधर्म के प्रति कदापि नहीं।

यह विषय इतने महत्व का है कि इसे जरा विस्तार से लिखता हूँ। यदि यहाँ अपने अनुभव की कुछ बातें लिखूँ तो कदाचित समभाव का अर्थ अधिक स्पष्ट होगा। यहाँ की भांति फिनिक्स में भी प्रति दिन प्रार्थना होती थी, उसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सब थे। स्वर्गीय रुस्तमजी सेठ या उनके सुपुत्र अक्सर हाजिर रहते थे। रुस्तमजी सेठ को 'मंने वहालुं वहालुं (प्यारा) दाता राम जानुं नाम' बहुत पसन्द था। मुझे याद है कि एक बार मगनलाल या काशी यह भजन हम सबसे गवा रहे थे। रुस्तमजी भाई उल्लास में बोल उठे—"दादा रामजी" के बदले 'दादा होरमज्द' गाइये न।" गवानेवालों और गानेवालों ने इस सूचना को ऐसे मान लिया मानों बिल्कुल स्वाभाविक हो और तब से रुस्तमजी सेठ की हाजिरी में तो बिला नागा और उनके न होने पर कभी-कभी हम उक्त भजन को 'दादा होरमज्द' के नाम से गाते। स्वर्गीय दाऊद

सेठ के लड़के स्वर्गीय हुसेन तो अक्सर आश्रम में रहते। वह प्राथना में उत्साह पूर्वक और स्वयं बड़े मीठे सुर से आरगन के साथ 'ये बहारे बाग दुनिया चन्द रोज़' गाते। उन्होंने यह पूरा भजन हम सब को सिखा दिया था और बहुधा प्रार्थना में गाया जाता था। हमारी आश्रम की प्रार्थनामाला (आश्रम भजनावली) में इस भजन को स्थान प्राप्त है, सो सत्य-प्रिय हुसेन की ही स्मृति है। उसकी अपेक्षा अधिक चुस्ती के साथ सत्य का आचरण करनेवाले नौजवान मैंने देखे नहीं। जोसफ रावप्पेन बहुधा आश्रम में आते जाते। वह ईसाई थे। 'वैष्णव जन तो तेने कहिये' यह भजन उन्हें खूब भाता। वह उत्तम संगीत जानते थे। उन्होंने 'वैष्णव जन' के बदले 'क्रिश्चियन जन तो तेने कहिये' गाया—सभों ने फौरन ही उसे दुहराया। मैंने देखा कि जोसफ के हर्ष का पार न था!

आत्म-सन्तोष के लिए जब मैंने भिन्न-भिन्न धर्म-ग्रन्थ उलट रहा था, तब मैंने ईसाई धर्म, इस्लाम, जरथुस्ती, यहूदी और हिन्दू; इन धर्मों के धर्म-ग्रन्थों का अपने सन्तोष-योग्य परिचय किया था। मैं कह सकता हूँ कि ऐसा करते हुए मेरे मन में इन सब धर्मों के प्रति समभाव था। मैं यह नहीं कहता कि उस वक्त मुझे इसका ज्ञान था—शायद उस समय समभाव शब्द का पूरा परिचय—पूरा ज्ञान—भी मुझे न हो। परन्तु उन दिनों के अपने स्मरणों को ताजा करता हूँ तो मुझे याद नहीं पड़ता कि कभी मेरे दिल में उन धर्मों की टीका करने की इच्छा तक भी हुई हो। हाँ, इन पुस्तकों को धर्म-पुस्तक समझ कर आदर-पूर्वक पढ़ता था और सब के मूल नैतिक सिद्धान्तों को एक समान पाता था। कुछ बातें मैं समझ नहीं पाता था। यही हाल हिन्दू धर्म-पुस्तकों का था। आज भी बहुत कुछ बातें नहीं समझता। परन्तु अनुभव ने मुझे यह सिखाया है कि जिसे

हम न समझ सकें उसे खोटा या झूठे मानने की जल्दी करना भूल है। कुछ बातें जो पहले समझ में नहीं आती थीं आज सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट प्रतीत होती हैं। समभाव का अभ्यास करने से अनेक उलझनें अपने आप सुलझ जाती हैं और जहाँ हमें दोष ही देखने में आवें वहाँ उन्हें बताने में जो नम्रता और विवेक होता है, उसके कारण किसी को दुःख नहीं होता।

तो भी शायद एक कठिनाई रह जाती है। पिछली बार मैं लिख चुका हूँ कि धर्म-अधर्म का भेद रहता है और अधर्म के प्रति समभाव रखने का यही उद्देश्य नहीं है। यदि यही बात है तो धर्माधर्म का निर्णय करने में ही समभाव की शृङ्खला नहीं टूटती? यह सवाल हो सकता है। और सम्भव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल करे भी। परन्तु यदि हममें सच्ची अहिंसा विद्यमान हो तो हम बैर के भावों से बच जाते हैं। क्योंकि अधर्म देखते हुए भी उस अधर्माचरण करनेवाले के लिए हमारे दिल में प्रेम ही होगा और इस कारण या तो वह हमारे दृष्टि-बिन्दु को स्वीकार करेगा या हमें हमारी भूल बतावेगा, या दोनों एक दूसरे के मतभेद को सहन करेंगे। आखिर यदि विपक्षी अहिंसक न होगा तो वह कठोरता का प्रयोग करेगा। पर तो भी यदि हम अहिंसा से सच्चे पुजारी होंगे तो हमारी मृदुता उसकी कठोरता को दूर करेगी ही—इसमें संदेह नहीं। दूसरे की भूल के लिए भी हमें उसे पीड़ा नहीं पहुँचानी, हमें खुद कष्ट उठा लेना है, जो इस सुवर्ण नियम का पालन करता है वह सब संकटों से बच जाता है।

———

३४—नम्रता

इसे व्रतों में पृथक् स्थान न है, न हो सकता है। यह अहिंसा का एक अर्थ है, या यों कहिये कि उसके अन्तर्गत है। परन्तु नम्रता अभ्यास से नहीं आती, वह स्वभाव में आ जानी चाहिये। जब पहली बार आश्रम की नियमावली तैयार हुई, तब उसका मसविदा मित्रवर्ग के पास भेजा था। सर गुरुदास बैनर्जी ने नम्रता को व्रतों में शुमार करने की सूचना की थी, तब भी मैंने इसे व्रतों में न मानने का यही कारण बताया था, जो यहाँ लिखता हूँ। परन्तु इसे व्रतों में स्थान न होते हुए भी कदाचित यह व्रतों की अपेक्षा अधिक आवश्यक है, उनके जितनी आवश्यक तो है ही। परन्तु अभ्यास से कोई नम्र बना हो, सो तो कभी सुना ही नहीं। सत्य का, दया का अभ्यास हो सकता है, नम्रता का अभ्यास करना तो दम्भ सीखना हुआ। यहाँ नम्रता से मतलब उस चीज से नहीं है जो बड़े लोगों में एक दूसरे के सम्मानार्थ सिखाई-पढ़ाई जाती है। कोई आदमी दूसरे को साष्टांग नमस्कार करता हो तो भी उसके मन में उसके लिए तिरस्कार हो सकता है। यह नम्रता नहीं लुचपन है। कोई राम-नाम जपता फिरे, माला फेरता रहे, मुनि जैसा बनकर समाज में विराजे, पर भीतर स्वार्थ भरा हो,—वह नम्र नहीं, पाखण्डी है। नम्र मनुष्य स्वयं नहीं जानता कि वह कब नम्र है। सत्य आदि का माप हम अपने पास रख सकते हैं, परन्तु नम्रता का माप नहीं होता। स्वाभाविक नम्रता छिपी नहीं रहती। नम्र मनुष्य स्वयं उसे देख नहीं सकता। वशिष्ठ विश्वामित्र के दृष्टान्त को तो हम अनेक बार आश्रम में समझ चुके हैं। हमारी नम्रता शून्यता तक जानी चाहिये। 'हम कुछ हैं' मन में इस भूत के आते ही

नम्रता काफूर हो जाती और हमारे सारे व्रत धूल में मिल जाते हैं। व्रत-पालन करनेवाले यदि मन में अपने पालन का गर्व रखने लगें तो व्रतों का मूल्य खो बैठें, और समाज में विषरूप बन जायँ। उनके व्रत की कीमत न समाज करे, न वे स्वयं ही उसका फल भोग सकें। नम्रता अर्थात् 'अहं'— भाव का आत्यन्तिक क्षय। विचार करने से यह मालूम हो सकता है कि इस जगत् में जीवमात्र एक रजकण की तुलना में भी कुछ नहीं है। शरीर के रूप में जीव क्षणजीवी है। काल के अनन्त चक्र में सौ वर्ष का प्रमाण निकाला ही नहीं जा सकता परन्तु यदि इस चक्र में से निकल जायँ, अर्थात् 'कुछ भी नहीं हो जायँ; तो सब कुछ हो जायँ। 'कुछ' होना अर्थात् ईश्वर से, परमात्मा से, सत्य से दूर जा पड़ना, विलग होना। 'कुछ' मिट जाना, अर्थात् 'परमात्मा में मिल जाना।' समुद्र में रहनेवाली बूंद समुद्र की महत्ता भोगती है, परन्तु इसे वह जानती नहीं। पर समुद्र से विलग हुई और आपे का दावा करने लगी कि उसी दम सूख गई। इस जीवन को पानी के बुद्बुदे की उपमा जो दी गई है, उसमें मैं लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं देखता। ऐसी नम्रता, शून्यता, अभ्यास द्वारा कैसे आ सकती हैं? परन्तु व्रतों को सच्चे रूप में समझने से नम्रता अपने आप आती जाती है। सत्य के पालन की इच्छा रखनेवाला अहंकारी कैसे हो सकता है? दूसरों के लिए प्राण बिछाने वाला अपनी जगह कहाँ रोकने जाय? वह तो तभी अपनी देह को फेंक चुका जब प्राण बिछाने का निश्चय किया। क्या इस नम्रता का अर्थ पुरुषार्थ-हीनता नहीं? हिन्दू-धर्म में इसका यह अर्थ अवश्य ही किया जा चुका है, और इसी कारण अनेक स्थानों में आलस्य को, पाखण्ड को स्थान मिल गया है। वस्तुतः तो नम्रता का अर्थ तीव्रतम पुरु-

षार्थ है, परन्तु यह सब परमार्थ के लिए होना चाहिये। स्वयं ईश्वर चौबीसों घण्टे एक साँस से काम किया करता है; आलस्य मिटाने—जमुहाई लेने जितनी फुरसत भी नहीं लेता। हमभी वैसा ही हो जायँ, उसमें मिल जायँ, जिससे हमारा उद्यम भी उसके समान अतन्द्रित हो, और यही होना चाहिये। समुद्र से बिलग बूँद के लिए हम आराम की कल्पना कर सकते हैं, पर समुद्र में रहने वाली बूँद को आराम कहाँ? ठीक यही बात हमारी है। ईश्वर रूपी समुद्र में हम समा जायँ; बस, हमारा आराम भी गया; आराम की ज़रूरत भी गई, यही सच्चा आराम है—यही है महा अशान्ति में शान्ति। अतः सच्ची नम्रता तो हमसे जीवमात्र की सेवा के लिए सर्वार्पण की आशा रखती है। सब कुछ परित्याग करने पर हमारे पास न रविवार रहता है, न शुक्रवार या सोमवार। इस स्थिति का वर्णन करना कठिन है। परन्तु यह अनुभव-गम्य है। जिसने सर्वार्पण किया है, उसने इसका अनुभव भी किया है। हम सब इसका अनुभव कर सकते हैं। इस अनुभव की इच्छा से ही आश्रम में इकट्ठे हुए हैं, सारे व्रत, समस्त प्रवृत्तियाँ इस अनुभव के लिए हैं। दूसरा-तीसरा करते हुए किसी दिन यह हमारे हाथ लग जायगा। इसी की शोध करने से यह प्राप्य नहीं है।।

३५—व्रत की आवश्यकता

व्रत के महत्व सम्बन्धी कुछ बातें मैं इस लेखमाला में कहीं-कहीं लिख गया हूँ। पर जीवन-निर्माण के लिए व्रत कितने आवश्यक हैं, इसका विचार उचित प्रतीत होता है। स्वदेशी को छोड़-कर अपने और सब व्रतों के सम्बन्ध में मैं लिख चुका, अतएव अब हम इन व्रतों की आवश्यकता का विचार करें।

ऐसा एक सम्प्रदाय है, और वह प्रबल है, जो कहता है, कि अमुक नियमों का पालन तो उचित है, पर उनके सम्बन्ध में व्रत लेने की आवश्यकता नहीं। यही नहीं बल्कि ऐसा करना मन की कमजोरी का सूचक है और हानिकारक भी हो सकता है। दूसरे व्रत ले चुकने के बाद यदि यह नियम असुविधा-जनक मालूम हो, या पापरूप लगे और तो भी उस पर दृढ़ रहना पड़े तो यह असह्य है। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि शराब न पीना अच्छा है, इसलिए न पीनी चाहिये, पर कभी पी ली हो तो क्या हुआ? दवाई के रूप में तो पी लेनी चाहिये, अतः न पीने का व्रत लेना तो गले में हँसली डालना जैसा हुआ? और जैसे शराब का वैसे ही और बातों का भी। भलाई होती हो तो असत्य क्यों न बोलें?

मुझे इन दलीलों में कोई तथ्य नहीं लगता। व्रत अर्थात् अटल निश्चय। अड़चनों—असुविधाओं को लांघने के लिए ही तो व्रतों की आवश्यकता है। अड़चन उठाते हुए जो टुटे नहीं, वही अटल निश्चय है—बगैर ऐसे निश्चय के मनुष्य उत्तरोत्तर चढ़ ही नहीं सकता—सारे जगत् का अनुभव इस बात का साक्षी है—इसका समर्थन करता है। जो पापरूप है, उसका निश्चय तो व्रत कहा नहीं जा सकता। वह तो राक्षसी वृत्ति है। और यदि एक व्रत विशेष, जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो, और अन्त में पापरूप सिद्ध हो तो उसे छोड़ने से धर्म अवश्य प्राप्त होता है। पर ऐसी वस्तु के लिए न कोई व्रत लेता है, न लेना चाहिये। जो धर्म सर्वमान्य माना गया है, पर जिससे आचरण की हमें आदत नहीं पड़ी है; उसका व्रत लिया जाता है। ऊपर के दृष्टान्त में पाप का आभास मात्र हो सकता है। 'सत्य कहने से किसी को हानि पहुँची तो?' सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता। सत्य से जगत् में किसी की हानि नहीं

होती, और न होगी। सत्यवादी यह विश्वास रक्खे। यही बात मद्यपान पर लागू होती है। या तो व्रत में दवाई को अपवाद माना हो, या व्रत में शरीर का जोखम उठाने का निश्चय हो। दवाई के रूप में भी शराब न पीने से देह का नाश हो भी जाय तो क्या? शराब पीने से देह रहेगी, ऐसा इकरारनामा कौन लिख सकता है? और उस क्षण देह बच जाय, पर दूसरे ही क्षण किसी दूसरे कारण से नष्ट हो जाय तो इसकी जवाबदेही किसके सिर? और इसके विपरीत देह नष्ट हो तो भले ही हो जाय, पर शराब न पीने के दृष्टान्त का चमत्कारिक प्रभाव शराब के व्यसन में फँसे हुये मनुष्यों पर हो, जगत् को यह कितना बड़ा लाभ है! देह जाय अथवा रहे, मुझे तो धर्म-पालन करना ही है, ऐसा भव्य निश्चय करनेवाले ही किसी समय ईश्वर का दर्शन कर सकते हैं।

व्रत लेना कमजोरी का नहीं, बल का सूचक है। अमुक काम करना उचित है, तो फिर वह करना ही चाहिये, इसी का नाम व्रत है। और इसमें बल है। फिर भले ही इसे वृत न कह कर और किसी नाम से पुकारा जाय। इसमें हर्ज नहीं। परन्तु 'जहाँ तक बन सकेगा, करूँगा' अपनी निर्बलता या अभि-मान का दर्शन कराता है। फिर वह स्वयं भले उसे नम्रता कहे। इसमें नम्रता की गन्ध तक नहीं। 'जहाँ तक हो सकेगा' यह वाक्य शुभ निश्चयों के लिए विष के समान है। मैंने इस बात को अपने जीवन में और दूसरे बहुतेरों के जीवन में अनुभव किया है, देखा है। 'जहाँ तक हो सकेगा' वहाँ तक करने का अर्थ है, पहली ही अड़चन में फिसल जाना 'यथासंभव सत्य का पालन करूँगा' इस वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं है। व्यापार में यदि इस आशय की कोई चिट्ठी लिखे कि मैं अमुक रक़म 'यथासम्भव' अमुक तारीख को लौटा दूँगा, तो उस चिट्ठी को

चेक या हुंडी के रूप में कहीं भी कोई स्वीकार न करेगा। इसी तरह 'यथासम्भव सत्य का पालन करने वाले की हुण्डी ईश्वर की दूकान पर 'सिकारी' नहीं जाती।

ईश्वर स्वयं व्रत की, निश्चय की, मूर्ति है। वह अपने नियम से एक अणु भी टले तो ईश्वर न रह जाय। सूर्य महाव्रतधारी है। इससे जग के काल का—समय का निर्माण होता है। और सुपंचांगों की रचना हो सकती है। उसने अपनी ऐसी ही साख जमाई है। वह हमेशा उगा है और उगता रहेगा। और इसी से हम अपने को सुरक्षित समझते हैं। व्यापार-मात्र का आधार एक टेक या साख पर निर्भर है। व्यापारी यदि एक दूसरे से वचनबद्ध न रहे तो व्यापार ही न चल सके। यों व्रत एक सर्वव्यापक वस्तु पाई जाती है; तो फिर जब स्वयं हमारे जीवन निर्माण का प्रश्न उठता है, ईश्वरदर्शन का सवाल खड़ा होता है, तब बिना व्रत के कैसे काम चल सकता है? इसलिए व्रत की आवश्यकता के सम्बन्ध में हमारे मन में किसी दिन शंका ही न पैदा हो।

३६—यज्ञ

हम यज्ञ शब्द का खूब उपयोग करते हैं। कताई को हमने अपना दैनिक महायज्ञ भी बनाया है। इसलिए यज्ञ शब्द का विचार कर लेना आवश्यक है। 'यज्ञ' अर्थात् इस लोक या परलोक में बिना किसी प्रकार का बदला लिये या बदले की इच्छा किये परार्थ किया गया कोई भी काम कायिक, वाचिक या मानसिक तीनों प्रकार का हो सकता है। काम या कर्म का यहाँ विशाल अर्थ करना चाहिये। 'पर' अर्थात् केवल मनुष्य

वर्ग ही नहीं, पर जीवमात्र । इसलिए, एवं अहिंसा की दृष्टि से भी, मनुष्य-जाति की सेवा के लिए ही क्यों न हो, दूसरे जीवों की बलि चढ़ाना या उनका नाश करना यज्ञ नहीं माना जा सकता। वेदादि में अश्व, गाय इत्यादि को बलि चढ़ाने का उल्लेख मिलता है । हम उसका खण्डन करते हैं । सत्य और अहिंसा की तराजू में, पशु-हिंसा के अर्थ में होम या यज्ञ चढ़ नहीं सकते । हमने इतने ही से सन्तोष माना है । धार्मिक कहे जाने-वाले वचनों के ऐतिहासिक अर्थ लगाने के लिए हम नहीं कह सकते और ऐसे अर्थों को शोध करने की अपनी अयोग्यता को हम स्वीकार करते हैं । ऐसी योग्यता प्राप्त करने का प्रयत्न भी हम नहीं करते। क्योंकि ऐतिहासिक अर्थ जीव-हिंसा को पसन्द करता हो तो भी सत्य और अहिंसा को सर्वोपरि धर्म स्वीकार कर चुकने के बाद हमारे लिए वह आचार त्याज्य है, जो ऐसे अर्थ को पसन्द हो । उक्त व्याख्या की दृष्टि से विचार करने पर हम देख सकते हैं कि जिस कर्म से अधिक से अधिक जीवों का विशाल क्षेत्र में—व्यापक रूप से कल्याण हो, जो कर्म अधिक से अधिक सरलता के साथ किया जा सके, और जिससे अधिक से अधिक सेवा होती हो, वह महायज्ञ है—अथवा अच्छे से अच्छा यज्ञ है । अर्थात् किसी की भी सेवा के लिए दूसरे किसी का अकल्याण चाहना या करना, कदापि यज्ञकार्य नहीं । और यह बात तो भगवद्गीता तथा अनुभव दोनों हमें सिखाते हैं कि यज्ञ व्यतिरिक्त कर्म-बन्धन है । ऐसे यज्ञ के विना यह जगत् एक क्षण भी नहीं टिक सकता । इसीलिए गीता-कार ने दूसरे अध्याय में ज्ञान की थोड़ी झाँकी कराने के बाद तीसरे अध्याय में उसकी प्राप्ति के साधनों का दिग्दर्शन कराया है, और स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि जन्म से ही हम यज्ञ को अपने साथ लाये हैं—अर्थात् हमें यह देह केवल परमार्थ

के लिए मिली है, और इसलिए जो बिना यज्ञ किये जीमता है, वह चोरी का अन्न खाता है। गीताकार ने अपना यह कठोर निर्णय दिया है। शुद्ध जीवन व्यतीत करनेवाले की इच्छा रखने वाले के समस्त कार्य यज्ञ रूप होने चाहिये। हम यज्ञ को साथ लेकर पैदा हुए हैं—अर्थात् सदा के ऋणी हैं, देनदार हैं। अतः हम जगत् के सदा के सेवक—गुलाम हैं और जैसे गुलाम को उसका स्वामी सेवा के बदले में अन्न वस्त्रादि देता है, वैसे ही हमें जगत् का स्वामी हमारी सेवा के बदले या हमसे सेवा लेने के कारण, जो अन्न वस्त्रादि दे उसे हम आभारपूर्वक ले लें। इतने के भी हम हकदार हैं, ऐसा न मानें, अर्थात् न मिलने पर स्वामी को बुरा-भला न कहें। या शरीर उसका है; वह अपनी इच्छानुसार इसे रक्खे, यह नष्ट करे। यह स्थिति न तो दुःखद है, न दयनीय। या हम अपना स्थान समझ लें तो स्वाभाविक है और इसीलिए सुखद तथा वांछनीय भी। इस परमसुख का अनुभव करने के लिए अविचल श्रद्धा की आवश्यकता है ही। मैंने तो सब धर्मों में यही आदेश पाया है कि अपनी चिन्ता ही न करनी—सब परमेश्वर के भरोसे छोड़ देना।

पर इस वचन से डरने का किसी के लिए कारण ही नहीं है। जो मन साफ रखकर सेवा का आरम्भ करता है, उसे उसकी (सेवा की) आवश्यकता दिन प्रति दिन स्पष्ट प्रतीत होती जाती है और वैसे-वैसे उसकी श्रद्धा भी बढ़ती जाती है। जो स्वार्थ छोड़ने को तैयार ही नहीं है, उसके लिए अलबत्ता सेवा-मार्ग कठिन है। उसकी सेवा में स्वार्थ की गन्ध आया ही करेगी। पर दुनिया में ऐसे स्वार्थी बिरले ही पाये जायँगे। हम सब कुछ न कुछ निःस्वार्थ सेवा तो जाने-अजाने करते ही हैं। इसी को हम विचारपूर्वक करने लगें तो हमारी

सेवा-वृत्ति—परमार्थिक सेवा-वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी—इसी में हमारा सच्चा सुख और संसार का कल्याण है।"

जिस वस्तु को जन्म से साथ लेकर हमने इस जगत् में प्रवेश किया है, उसका कुछ और विचार करना निरर्थक न होगा। यह सोचते हुए कि यज्ञ नित्य का कर्त्तव्य है, चौबीसों घण्टे आचरण करने की चीज है, और यह जानते हुये कि यज्ञ का अर्थ सेवा है, 'परोपकाराय सतां विभूतय:' जैसा वचन खटकता है। निष्काम सेवा परोपकार नहीं, अपना उपकार है। जैसे कर्ज अदा करना परोपकार नहीं, बल्कि निज की सेवा है, अपना उपकार है, अपने सिर का बोझ हलका करना है, अपने धर्म को निभाना है। दूसरे, यह कि संत की ही पूंजी—विभूत—'परोपकार के लिए' अर्थात् अधिक उपयुक्त शब्दों में 'सेवा के लिए' है, ठीक नहीं, बल्कि मनुष्य-मात्र की पूँजी मात्र सेवा के लिए है। और यदि यह बात है तो जीवन-मात्र से भोग का उच्छेद हो जाता है और वह त्यागमय बनता है, अथवा त्याग को ही भोग समझता है। मनुष्य का त्याग ही उसका भोग है। यह है, पशु और मनुष्य के बीच का भेद। बहुतेरे लोग इस पर यह आपत्ति करते हैं कि जीवन का ऐसा अर्थ करने से जीवन शुष्क बन जाता है, कला का नाश हो जाता है। इसी कारण वे उक्त विचार को दोषपूर्ण मानते हैं। पर मेरे विचार में ऐसा कहने में त्याग का अनर्थ होता है। त्याग का अर्थ संसार से भागकर अरण्यवास करना नहीं, बल्कि जीवन की समस्त प्रवृत्ति में त्याग की भावना का होना। गृहस्थ-जीवन त्यागमय भी हो सकता है और भोगमय भी। मोची के जूते बनाने में, किसान के खेती करने में, व्यापारी के व्यापार में; और नाई के हजामत बनाने में त्याग की भावना हो सकती है, अथवा भोग की लालसा। यथार्थ व्यापार करने

वाला करोड़ों का व्यापार करता हुआ भी लोक सेवा का ही विचार करेगा। वह किसी को धोका न देगा, सट्टेबाजी न करेगा, न उठाने योग्य जोखिम नहीं उठावेगा और करोड़ों का स्वामी होते हुए भी सादगी से रहेगा। करोड़ों की कमाई करते हुए भी वह किसी का नुकसान नहीं करेगा, किसी का नुकसान होता होगा तो करोड़ों पर लात मार देगा। कोई मेरी इस बात को काल्पनिक समझकर हँसे नहीं। संसार के सौभाग्य से ऐसे व्यापारी पश्चिम में भी हैं और पूर्व में भी। भले ही इनकी संख्या अँगुली पर गिने जाने योग्य हों। पर एक भी जीविक जीवित उदाहरण के रहते हुए ऐसा व्यापारी काल्पनिक नहीं रह जाता। ऐसे दरजी को तो हमने बढ़वाण (काठियावाड़ के एक देशी राज्य की राजधनी) में ही देखा है। ऐसे एक नाई को मैं जानता हूँ और ऐसे जुलाहे को हम में से कौन नहीं जानता? विचार करने और शोध करने में हमें सब धन्धों में केवल यज्ञार्थ जीवन बिताने वाले और अपना धन्धा करने वाले लोग दिखाई पड़ेंगे। यह सच है कि ऐसे याज्ञिक अपना धंधा करते हुए अपनी आजीविका कमाते हैं। पर वे आजीविका के लिए धन्धा नहीं करते। आजीविका तो उनके लिए उस धन्धे का गौड़ फल है। मोतीलाल पहले भी दरजी था और ज्ञान होने पर भी दरजी ही रहा। उसकी भावना बदल गई, इससे उसका धन्धा यज्ञरूप बना। उसमें पवित्रता ने प्रवेश किया। उस धन्धे में दूसरे के सुख विचार समाया, तब उसके जीवन में कला ने प्रवेश किया। यज्ञमय जीवन कला की पराकाष्ठा है। सच्चा रस ही उसमें है क्योंकि उसमें से इसके नित नये झरने झरते हैं। मनुष्य उसे पीते हुये थकता नहीं, झरने कभी सूखते नहीं। जो यज्ञ बोझ रूप लगे, वह यज्ञ नहीं, खटके वह त्याग नहीं। भोग का परिणाम नाश है। त्याग का

फल-अमरता। रस स्वतन्त्र वस्तु नहीं। रस हमारी वृत्ति में है। एक को नाटक के पर्दों में मजा आवेगा, दूसरे को आकाश में, तो नित नए परिवर्तन रहते हैं, उनमें मजा आवेगा। अर्थात्-रस तालीम या अभ्यास का विषय है। बचपन में रस के रूप में जिनका अभ्यास कराया जाता है, रस के रूप में जिनकी तालीम जनता लेती है, वे रस माने जाते हैं। एक राष्ट्र या प्रजा को जो रसमय प्रतीत होता है, वह दूसरे राष्ट्र या दूसरी प्रजा को रसहीन लगता है। इसके उदाहरण हमें मिल सकते हैं।

यज्ञ करनेवाले बहुतेरे सेवक यह मानते हैं कि हम निष्काम भाव से सेवा करते हैं, इसलिए लोगों से जो चाहिये वह, और जिसकी जरूरत नहीं है, वह भी लेने का परवाना मिल गया है। यह विचार जिस सेवक के मन में जिस वक्त आता है, तभी से वह सेवक मिटकर सरदार बनता है। सेवा में अपनी सुविधा के विचार को कोई स्थान ही नहीं है। सेवक की सुविधा को देखने वाला स्वामी—ईश्वर—है। उसे जो सुविधा देनी होगी, वह देगा। यह सोचकर सेवक को चाहिये कि जो मिले उसे अपना समझ कर बैठ न जाय, बल्कि जितनी आवश्यकता है, उतना ही ले और बाकी का त्याग करे। अपनी सुविधा की रक्षा न होने पर भी ऐसा सेवक शान्त रहेगा, रोष-रहित रहेगा मन में भी नहीं झुँझलाएगा। याज्ञिक का बदला सेवक की मजदूरी, यज्ञ सेवा ही है। उसे उसी में सन्तोष होगा।

साथ ही सेवा-कार्य में बेगार कदापि नहीं टाली जा सकती, उसे आखिरी स्थान नहीं दिया जा सकता। अपनी चीज को सजाना और दूसरे की उपेक्षा करना अथवा मुफ्त में करना है, इसलिए जैसा और जब करेंगे, तो भी काम चलेगा, इस तरह के विचार रखनेवाला या ऐसा आचरण करनेवाला यज्ञ

के मूलाक्षर भी नहीं जानता। सेवा में तो शृङ्गार सजाने होते हैं। अपनी समस्त कला उसमें उँडेलनी होती है, वह है पहली चीज और बाद में है अपनी सेवा। सारांश यह कि शुद्ध यज्ञ करने वाले का अपना कुछ भी नहीं है, उसने कृष्णार्पण किया है।

३७—चन्द धार्मिक प्रश्न

एक भाई ने चन्द धार्मिक प्रश्न पूछे हैं। ऐसे पश्न बहुत मरतबा पूछे जाते हैं। ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने में हमेशा कुछ न कुछ, संकोच बना रहता है। परन्तु ऐसे प्रश्नों पर विचार किया है, निर्णय भी किया है, फिर भी उनका उत्तर न देना उचित नहीं मालूम होता। इसलिये नीचे लिखे प्रश्नों का यथा-मति, यथाशक्ति उत्तर देता हूँ।

"प्राचीन समय के होनेवाले यज्ञों के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ? उससे हवा की शुद्धि होती है या नहीं ? आज ऐसे यज्ञा के लिये स्थान हैं ? कुछ संस्थायें ऐसी यज्ञों का पुनरुद्धार करती हैं, उससे क्या लाभ होगा ?"

यज्ञ शब्द सुन्दर है, शक्तिमान् है। इसलिये जैसे ज्ञान और अनुभव की वृद्धि होती है, अथवा युग बदलता है वैसे ही उसके अर्थ का भी विस्तार हो सकता है। और वह बदल भी सकता है। यज्ञ का अर्थ पूजन, बलिदान, पारमार्थिक कर्म यज्ञ हो सकता है। इस अर्थ में यज्ञ का हमेशा पुनरुद्धार होना ही उचित है। परन्तु यज्ञ के नाम से शास्त्रों में जुदी-जुदी क्रियायें बयान की गई हैं, उनका पुनरुद्धार इष्ट नहीं है और न वह सम्भव ही हैं। कुछ क्रियायें तो हानिकारक भी हैं। उन क्रियाओं का अर्थ जो आज किया जाता है, वह अर्थ वैदिक

काल में होगा या नहीं इस विषय में भी सन्देह बना रहता है। सन्देह को स्थान हो या नहीं परन्तु उसकी बहुत सी क्रियायें ऐसी हैं कि उसको हमारी बुद्धि या नीति आज स्वीकार ही नहीं कर सकती है। शास्त्रज्ञ लोग यह कहते हैं कि पहले नरमेध होता था। क्या आज वह हो सकता है? कोई यदि अश्वमेध करने बैठे तो यह क्रिया हास्यजनक ही मालूम होगी। यज्ञ से हवा की शुद्धि होती है या नहीं। इस विचार के झमेले में पड़ना आवश्यक है, क्योंकि हवा की शुद्धि जैसा तुच्छ फल प्राप्त होगा कि नहीं; यह विचार धार्मिक क्रिया के सम्बन्ध में किया ही नहीं जा सकता है। हवा की शुद्धि के लिये तो आज भौतिक शास्त्र का आधुनिक ज्ञान हमें बड़ी सहायता कर सकता है। शास्त्र के सिद्धान्त और ही हैं और उन सिद्धान्तों के ऊपर रचित क्रियायें और ही वस्तु हैं। सिद्धान्त सब समय या सब जगह एक ही होता है। क्रियायें समय-समय पर और स्थान विशेष के अनुकूल बदलती रहती हैं।

"हम लोगों में साधारणतया यह बात कही जाती है कि मनुष्य अवतार बार बार नहीं मिलता है, इसलिये ईश्वर का भजन करो। यह मनुष्य जन्म चूकोगे तो लखचौरासी सहन करनी होगी। इसमें सत्य क्या है? कबीर भी एक भजन में कहते हैं:—'कहे कबीर चेत अजहूँ नहीं, फिर चौरासी जाई' पाइ जन्म शूकर, कूकर को भोगेगा दुःख भाई।' इसमें ग्रहण करने योग्य बात क्या है?

इसे मैं अक्षरशः माननेवाला हूँ। बहुत सी योनियों में भ्रमण करने के बाद ही मनुष्य-जन्म मिल सकता है और मोक्ष अथवा द्वन्द्वादि से मुक्ति भी मनुष्य देह से ही प्राप्त हो सकती है। यदि अन्त में आत्मा एक ही है तो अनेक आत्मा-रूप से उसका असंख्य योनियों में भ्रमण करना असम्भव या आश्चर्य-

कारक प्रतीत नहीं होना चाहिये। इसको बुद्धि भी स्वीकार करती है और कुछ लोग तो अपने पूर्व-जन्म का स्मरण भी प्राप्त कर सकते हैं।"

"प्राणायाम से समाधि तक पहुँचनेवाला योगी और इन्द्रिय संयमी इन दो मनुष्यों में कौन मनुष्य अपने आत्मा का अधिक कल्याण करता होगा ?

इस प्रश्न में संयम और योग के विरोधी होने की कल्पना की गई है। लेकिन सच बात तो यह एक दूसरे का कारण है, अथवा एक दूसरे का सहायक है। बिना संयम के समाधि का व्यापक अर्थ लेना चाहिये, हठयोगी की समाधि नहीं। यह नहीं कि हठयोगी की समाधि इन्द्रिय संयम के लिये आवश्यक है। यह समाधि भले ही सहायक हो सकती है परन्तु अभी तो सामान्य समाधि ही इष्ट है। सामान्य समाधि अर्थात् निश्चित की हुई वस्तु के लिये तन्मय हो जाने की शक्ति। यह स्मरण होना चाहिये कि इन्द्रिय संयम के बिना योग की साधना निरर्थक है।

"स्वाश्रयी मनुष्य स्वयं खेती करके अपने लिये अनाज उत्पन्न करे, खेती के लिये आवश्यक औजार, हल इत्यादि भी स्वयं बनावें, बढ़ई का काम भी खुद करें, कपड़े भी खुद ही बनावें, रहने का मकान भी खुद बनावें, अर्थात् अपने लिये जिन चीजों की आवश्यकता हो वह स्वयं ही बना लें, अपनी आवश्यकता के लिए दूसरे को न रोकें। स्वाश्रयी यदि ऐसा करें तो क्या यह उचित कहा जायगा या अनुचित ? आपने स्वाश्रय की क्या व्याख्या की है ?

स्वाश्रय के मानी हैं किसी की भी मदद के बिना सीधे खड़े रहने की शक्ति। इसका मतलब यह नहीं कि दूसरों की सहायता के सम्बन्ध में वह लापरवाह हो जाय, अथवा उसका

त्याग करें अथवा दूसरे की मदद ही न चाहें या न मांगें। परन्तु दूसरों की मदद चाहने पर भी, मांगने पर भी यदि वह न मिल सके तो भी जो मनुष्य स्वस्थ रह सकता है, स्वमान की रक्षा कर सकता है वह स्वाश्रयी है। जो किसान, दूसरों की मदद मिल सकती हो तो भी स्वयं ही हल जोते, अनाज बोवे, फसल काटें, खेती के औज़ार तैयार करें. अपने कपड़े आप ही कातें, बुनें या सियें, अपने लिये अनाज भी स्वयं तैयार करें और घर भी स्वयं तैयार करें, वह या तो बेवकूफ होगा, अभिमानी होगा, अथवा जंगली होगा। स्वाश्रय में तो शरीर यज्ञ तो आही जाता है, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को अपनी आजीविका के लिये आवश्यक शारीरिक मिहनत करनी ही चाहिये। इस लिये जो मनुष्य आठ घन्टे खेती का काम करता है, उससे जुलाहा, बढ़ई, लुहार इत्यादि कारीगरों की मदद लेने का अधिकार है, उनसे मदद लेने का उनका धर्म है और उसे वह मदद सहज ही में मिल सकती है। और बढ़ई, लुहार आदि कारीगर वर्ग किसान की मेहनत लेकर उससे अन्नादि प्राप्त कर सकते हैं। जो आँख हाथ की सहायता के बिना ही चला लेने का इरादा रखती है वह स्वाश्रयी नहीं है, लेकिन अभिमानी है और जिस प्रकार हमारे शरीर में हमारे अवयव अपने अपने कार्य में स्वाश्रयी हैं फिर भी एक दूसरे की मदद करने में परोपकारी हैं और उस प्रकार एक दूसरे की मदद लेने के कारण परावलम्बी हैं, वैसे ही हिन्दोस्तान रूपी शरीर के हम लोग त्रिशकोटि अवयव हैं। सबको अपने अपने क्षेत्र में स्वाश्रयी बनने का धर्म पालना करना चाहिये और अपने को राष्ट्र का अंग सिद्ध करने के लिये एक दूसरे के साथ मदद की विनिमय भी करना चाहिये। यह होगा तभी तो राष्ट्र का विकास हुआ गिना जा सकेगा और तभी हम राष्ट्रवादी गिने जा सकेंगे।

"आजकल लग्न की क्रिया, सन्ध्या, यज्ञ की क्रिया, ईश्वर प्रार्थना इत्यादि क्रियायें संस्कृत मंत्रों से कराई जाती हैं। कराने वाला मंत्र बोलता है, और करनेवाला उसका रहस्य समझे बिना उसमें शामिल होता है। आजकल संस्कृत मातृभाषा नहीं रही है। बहुत से मण्डल लोगों को ईश्वर प्रार्थना, संध्या, यज्ञ इत्यादि संस्कृत के मंत्रों से करने को कहते हैं। लोगों को उस भाषा का ज्ञान ही नहीं होता तो फिर वे उसमें एक चित्त कैसे हो सकते हैं? और संस्कृत बड़ी ही कठिन भाषा है। इसलिये उसके मंत्रों को रटने में और फिर उसके अर्थों के याद करने में मैं मानता हूँ कि दुगुनी मिहनत होती है। जिस समय संस्कृत मातृ भाषा थी उस समय जनसमाज का सारा कामकाज उसी के द्वारा चलता था और यह उचित ही था परन्तु अब वैसी स्थिति नहीं है। हर एक अपनी क्रियायें अपनी मातृभाषा के द्वारा करें यह लाभप्रद होगा परन्तु अभी तो उल्टा ही कार्य हो रहा है। जनसमाज में ऊपर गिनाये गये सब कर्म संस्कृत में ही कराये जाते हैं।"

मेरा अभिप्राय यह है कि सभी धार्मिक हिन्दू क्रियाओं में संस्कृत होना ही चाहिये। अनुवाद कैसा भी अच्छा क्यों न हो फिर भी अमुक शब्दों के ध्वनि में जो रहस्य होता है वह अनुवाद में नहीं मिलता है। और हजारों वर्ष हुए जो भाषा संस्कारी बनी है और जिसमें मंत्र बोले जाते हैं, उनको प्राकृत में ले जाने में और उतने से ही मान लेने में उसका गाम्भीर्य कम हो जाता है। परन्तु इस विषय में मेरे मन में कोई सन्देह नहीं है, कि जो मंत्र जिसके लिये बोले जाते हों और क्रिया होती हो उनका अर्थ उन्हें उनकी भाषा में अवश्य ही समझना चाहिये। लेकिन मेरा अभिप्राय यह भी है कि किसी भी हिन्दू की शिक्षा जब तब तक उसे संस्कृत भाषा के मूल तत्वों का ज्ञान नहीं

कराया जाता, अपूर्ण ही होती है। बहुत बड़े परिमाण में संस्कृत के ज्ञान के बिना हिन्दू धर्म के अस्तित्व की भी मैं कल्पना नहीं कर सकता हूँ। हम लोगों ने अपने शिक्षा-क्रम के कारण ही भाषा को कठिन बना दिया है, वस्तुतः यह कठिन नहीं है। लेकिन यदि कठिन हो तो भी धर्म का पालन तो उससे भी अधिक कठिन है। इसलिये जिन्हें धर्म का पालन करना है उन्हें उसका पालन करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता हो वे कठिन हों तो भी उन्हें तो वे सरल ही मालूम होने चाहियें।

३८—कुछ धार्मिक प्रश्न

एक भाई नीचे लिखे प्रश्न पूछते हैं :—

१—"धर्म का वास्तविक रूप तथा उद्देश्य:—आज धर्म के नाम पर कैसे कैसे अनर्थ होते हैं? जरा-जरा सी बातों में धर्म की दुहाई दी जाती है। किन्तु ऐसे कितने मनुष्य हैं जो धर्म के उद्देश्य तथा रहस्य को जानते हों? इसका एक-मात्र कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव है। मुझे आशा है आप इस पर और नीचे लिखे दूसरे प्रश्नों पर 'हिन्दी नवजीवन' द्वारा अपने विचार प्रकट करने का कष्ट स्वीकार करेंगे।

२—मनुष्य की आत्मा को किन साधनों द्वारा शान्ति मिल सकती है। और उसका इहलोक व परलोक बन सकता है?

३—क्या आपके विचार से अगर मनुष्य अपने पिछले दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त करले तो उनका फल नष्ट हो सकता है

४—मनुष्य के जीवन का उद्देश्य और उसके प्रमुख कर्त्तव्य क्या होने चाहिएँ?

यह आश्चर्य और आनन्द की बात है कि 'यंग इण्डिया'

'गुजराती नवजीवन' और 'हिन्दी-नवजीवन' के पाठकों में से हिन्दी पाठकों में से हिन्दी पाठक ही धर्म के बारे में ज्यादातर प्रश्न पूछते हैं। इसका यह अर्थ तो हरगिज नहीं होता कि दूसरे प्रान्त के लोगों में धर्म जिज्ञासा का अभाव है। परन्तु यह ठीक है कि 'हिन्दी-नवजीवन' के पाठकों में ही अधिकतर ऐसे हैं जिन्हें धार्मिक प्रश्नों की चर्चा से प्रेम है और जिसके समाधान के लिये वे मेरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं। मैं अपने लिये धर्मशास्त्र के गम्भीर अनुभव का दावा नहीं कर सकता; हाँ धर्म-पालन के प्रयत्न में मुझे जो अनुभव होते हैं, उनसे अगर पाठकों का कुछ लाभ हो सकता है, तो अवश्य ही वे उनका लाभ उठा सकते है। अपनी इस मर्यादा का उल्लेख कर अब मैं उक्त प्रश्नों के उत्तर देने की चेष्टा करूँगा।

१—निःसन्देह यह सच है कि आजकल देश में धार्मिक शिक्षा का अभाव है। धर्म की शिक्षा-धर्मपालन द्वारा ही दी जा सकती है। कोरे पाण्डित्य द्वारा कदापि नहीं। इसी कारण किसी ने कहा है :—

'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ?'

अर्थात्--सत्संग के लिये क्या नहीं कर सकता ? तुलसीदास ने सत्संग की महिमा का जो वर्णन किया है उसे कौन नहीं जानता होगा ? इसका यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक पुस्तकों का पठन-पाठन अनावश्यक है। इसकी आवश्यकता तभी होती है जब मनुष्य सत्संग प्राप्त कर चुकता है और कुछ हद तक शुद्ध भी बन चुकता है। यदि इससे पहले धर्म पुस्तकों का पठन-पाठन भर शुरू किया जाता है, तो शान्तप्रद होने के बदले उसका बन्धक बन जाना अधिक सम्भव है। तात्पर्य, समझदार मनुष्य दुनिया भर की फिक्र करने के बदले पहले स्वयं धर्म-पालन करना शुरू कर दे। फिर तो 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के

न्यायानुसार एक के आरम्भ का असर दूसरे पर अवश्य ही पड़ेगा। अगर सब अपनी-अपनी चिन्ता करने लगें तो किसी को किसी की चिन्ता करने की जरूरत ही न रह जाय।

२—साधु-जीवन से ही आत्मशान्ति की प्राप्ति सम्भव है। यही इहलोक और परलोक, दोनों का साधन है। साधु जीवन का अर्थ है, सत्य और अहिंसामय जीवन; संयम-पूर्ण जीवन है। भोग कभी धर्म नहीं बन सकता। धर्म की जड़ तो त्याग ही में है।

३—पिछले दुष्कृत्यों का प्रायश्चित शक्य है और कर्त्तव्य भी। प्रायश्चित्त का अर्थ न मिन्नतें है; न रोना-पीटना ही है। हाँ उसमें उपवासादि की गुञ्जाइश अवश्य है। पश्चात्ताप ही सच्चा प्रायश्चित्त है। दूसरे शब्दों में दुबारा दुष्कर्म न करने का निश्चय ही शुद्ध प्रायश्चित्त है। दुष्कर्मों के फलों का कुछ न कुछ नाश तो अवश्य होता है। जब तक प्रायश्चित नहीं किया जाता तब तक फल चक्र-वृद्धि ब्याज की भाँति बढ़ता ही रहता है, प्रायश्चित्त कर लेने से सूद की वृद्धि बन्द हो जाती है।

४—मनुष्य जीवन का उद्देश्य आत्म दर्शन है। और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एक-मात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीवमात्र की सेवा करना है; उनमें तन्मयता तथा अद्वैत के दर्शन करना है।